

पाश्चात्य दर्शन की शोध प्रविधियाँ

सारांश

पाश्चात्य दर्शन में मनुष्य की जिज्ञासा, आश्चर्य, दुःख, कष्ट, समस्या के समाधान के ज्ञान के लिए अनेक तरह से समय-समय पर चिन्तन-मनन करके ज्ञान की अनेक प्रकार की प्रविधियों की खोज की गयी है, जो शुद्ध रूप से तार्किक एवं बौद्धिक अथवा एक प्रकार के मानसिक व्यायाम के विभिन्न तरीके हैं, परन्तु पाश्चात्य दर्शन में इन प्रविधियों को भले ही मानसिक व्यायाम कहा गया हो, परन्तु इन प्रविधियों के द्वारा ही उन्होंने ऐसे ज्ञान का सृजन किया है, जिसके बल पर पाश्चात्य जगत् प्रत्येक क्षेत्र में पूर्वी जगत् से आगे और विकसित कहा जाता है। पाश्चात्य दर्शन की ऐसी प्रविधियों में आगमन, निगमन, सन्देह, वादविवाद, वितण्डा, समीक्षात्मक, द्वन्द्वात्मक आदि मुख्य प्रविधियाँ हैं, जिनके बल पर वह अपने चिन्तन को श्रेष्ठ स्तर पर ले जाता है और यही कारण है कि पाश्चात्य दर्शन में हमें चिन्तन की विभिन्न धारायें देखने को मिलती हैं।

मुख्य शब्द : पाश्चात्य, आगमन, निगमन, अनुभववाद, बुद्धिवाद, समीक्षावाद, द्वन्द्वात्मक, दर्शन, विधि, प्रविधि, सार्वभौम, आत्मा, ईश्वर, कल्पना, प्रमाण, सिद्धि, खण्डन।

प्रस्तावना

भारतीय दर्शन भले ही अपने आपको कितना ही श्रेष्ठ क्यों न मानते हों और कुछ क्षेत्रों में जैसे धर्म एवं अध्यात्म में श्रेष्ठ है भी, परन्तु व्यावहारिक स्तर पर हम यह पाते हैं, कि हम पाश्चात्य जगत् के मुकाबले अनेक क्षेत्रों में काफी पीछे हैं। पाश्चात्य जगत् जितनी तेजी से मनुष्य एवं समाज की समस्यायें सुलझा लेता है, उतनी तेजी से पूर्वी जगत् में समस्यायें नहीं सुलझ पाती। कारण स्पष्ट है, पाश्चात्य एवं पूर्वी जगत् में सोचने की प्रविधि कुछ भिन्न है, और केवल भिन्न ही नहीं है, अपितु इन प्रविधियों के आधार पर जो सिद्धान्त निर्मित किये जाते हैं, उसके व्यावहारिक उपयोग में भी बहुत अन्तर दिखाई देता है, जैसे पाश्चात्य जगत् में जब कोई सिद्धान्त स्थापित होता है, तो उसका व्यावहारिक उपयोग तुरन्त ही दिखाई देने लग जाता है और वह उस रूप में ही लागू होता है, जिस रूप में उसके लागू होने की अपेक्षा की जाती है, परन्तु पूर्वी जगत् में जो सिद्धान्त एवं आदर्श स्थापित किये जाते, वे उस रूप में लागू नहीं हो पाते जिस रूप में उनके लागू होने की अपेक्षा की जाती है, अब प्रश्न उठता है कि इसका कारण क्या हैं, लेखक की दृष्टि में इसका कारण है कि पूर्वी जगत् में कोई भी सिद्धान्त एवं आदर्श को लागू करने के लिये जबरदस्ति धर्म एवं अध्यात्म के दरवाजे से गुजारा जाता है, जिसके कारण ये सिद्धान्त एवं आदर्श पूर्ण रूप से अपना व्यावहारिक रूप नहीं ले पाते, जिसका सबसे बड़ा दृष्टान्त हमें भारत के संविधान की व्यवस्था में देखने को मिलता है, क्योंकि भारत का संविधान अपने 68 वर्षों में भी पूर्ण रूप से व्यावहारिक रूप नहीं ले पाया है, क्योंकि यहां सोचने एवं कार्य करने की प्रविधि में काफी अन्तर पाया जाता है। लेखक की दृष्टि में इसका एक ही कारण हो सकता है कि भारतीय संविधान एवं यहां माने जाने वाले विभिन्न धर्मों में तालमेल कम दिखाई देता है। पाश्चात्य जगत् में धर्म एवं संविधान के मध्य ऐसी स्थिति कम ही दिखाई देती है। जब हम पाश्चात्य दर्शन का अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि हमें पाश्चात्य दर्शन में सोचने के ढंग एवं ज्ञान व अनुसंधान की विभिन्न प्रविधियाँ मिलती हैं, जिनका वर्णन निम्नलिखित है:-

सुकरातीय प्रविधि

सर्वप्रथम पाश्चात्य दर्शन में हमें यूनान के महान दार्शनिक सुकरात के चिन्तन की एक विशेष पद्धति मिलती है, जो सामान्य रूप से बड़ी ही साधारण सी पद्धति दिखाई देती है, परन्तु दर्शन के अनुसंधान के क्षेत्र में इसका बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। सामान्यतः सुकरात अपनी मित्र-मण्डली के सदस्यों के



पिताम्बर दास जाटव

असिस्टेन्ट प्रोफेसर,
दर्शनशास्त्र विभाग,
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ,
वाराणसी

साधारण विचारों को किसी विषय के वाद-विवाद में लेकर चलता था और उन विचारों का मनुष्य के दैनिक जीवन से सीधा संबंध होता था। उनकी भलीभाँति परीक्षा करने के पश्चात् सुकरात ऐसे निष्कर्षों पर पहुँचता था, जहाँ उनके सही-सही आधारों का पता लग जाये और यह भी ज्ञात हो जाये कि उनमें किस प्रकार के उपयुक्त सुधारों की आवश्यकता है। सुकरात अपने मित्रों को सही विचार ग्रहण करने में सहायता ही नहीं करता था बल्कि उन्हें नवीन चिन्तन की ओर प्रोत्साहित भी करता था। वह ऐसे उपयुक्त व्यावहारिक उदाहरण देता था कि उसके विचारों को सरलता से समझा जा सकता था। सुकरात अपनी प्रश्नात्मक निपुणता के लिए बहुत ही प्रसिद्ध था। वह सम्बन्धित समस्या के विषय में लोगों के विचार पूछता था। उन्हें ध्यान से सुनता था और फिर विभिन्न प्रकार के प्रश्न पूछता था। प्रश्नों के माध्यम के द्वारा वह उपस्थित समस्या के पीछे निहित गहन तथ्यों तक पहुँच जाता था।

सुकराती-पद्धति के विभिन्न आयाम थे। जैसे इसमें निगमन पद्धति के आधार पर सामान्य परिभाषाओं का अवतरण किया जाता था और एक अस्थायी परिभाषा के पश्चात् उसकी विशेष उदाहरणों की दृष्टि से परीक्षा की जाती थी और उस परिभाषा में उस समय तक सुधार एवं परिवर्तन होता रहता था, जब तक कि वह संतोषजनक परिभाषा के रूप में स्पष्ट न हो जाये। सुकरात की पद्धति का एकमात्र उद्देश्य विभिन्न धारणाओं को स्पष्ट एवं विशिष्ट बनाना था। कभी-कभी सुकरात मूल सिद्धांतों को ध्यान में रखकर विचाराधीन विषयों की आलोचना और उनमें सुधार करता था। इस प्रकार सुकरात आगमन पद्धति का प्रयोग भी करता था। अतः सभी प्रकार के पदों की स्पष्ट एवं विशिष्ट परिभाषायें होना आवश्यक है ताकि हम निश्चित रूप से कुछ कह सकें। सुकरात ने यह स्पष्ट कहा कि ज्ञान का सम्बन्ध सामान्य तथा विलक्षण से है, न कि विशेष तथा आकस्मिक से। सोफी विद्वान यह बात समझाने में असमर्थ रहे। सुकरात के अनुसार, सार्वभौम ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। लेकिन सुकरात ने सोफियों की इस बात को स्वीकार किया कि तात्त्विक कल्पनाओं में व्यस्त रहना समय नष्ट करना है। यह जगत् क्या है ? उसकी उत्पत्ति कहाँ से हुई ? जगत् का अन्त कब होगा ? इन प्रश्नों के समाधान की ओर सुकरात ने कोई ध्यान नहीं दिया। वह तो नैतिक एवं व्यावहारिक मानवी समस्याओं में ही लीन रहता था। सुकरात का यह कोई स्पष्ट लक्ष्य नहीं था कि समस्त दार्शनिक विचारों को एक ही सिद्धान्त में आबद्ध किया जाये। इसका भी स्पष्ट संकेत नहीं मिलता कि वह दार्शनिक अन्वेषण की पद्धति की स्थापना करना चाहता था। वह स्वयं अपनी पद्धति के प्रति जागरूक नहीं था। लेकिन उसकी दार्शनिक चिन्तन प्रक्रिया में एक निश्चित पद्धति के लक्षण मिलते हैं, जो इस प्रकार है:-

संशय की पद्धति (Method of Doubt)

सुकरात की पद्धति में संशयवाद का आरम्भ दिखाई देता है, क्योंकि सुकरात सर्वप्रथम हर विषय के वाद-विवाद में अपनी अनभिज्ञता व्यक्त करता था। एक प्रकार से वह अपने निजी ज्ञान को छिपाकर रखता था। स्पष्टतः यह उसका व्यंग्यात्मक पग होता था, अन्त में वह

अपनी बौद्धिक कुशाग्रता के आधार पर अपने को ही अधिक ज्ञानी सिद्ध कर देता था, यद्यपि यह उसका उद्देश्य नहीं होता था। उसकी यह व्यक्तिगत अभिलाषा नहीं थी कि वह अपने को सबसे अधिक ज्ञानी सिद्ध करे। यह तो उसकी पद्धति का परिणाम होता था। अन्य विद्वानों की बातों को भी वह सुनता और स्वीकार करता था। सुकरात की पद्धति को सन्देहात्मक कहा जाता है, किन्तु उसकी पद्धति सोफिस्टों की संशयात्मक पद्धति से भिन्न है। सोफियों का संशय निश्चित एवं स्थायी था, जबकि सुकरात का संशय प्रयोजनमय एवं अस्थायी था। वह अपने विवेचन को सन्देह से प्रारम्भ अवश्य करता था, परन्तु वह अपने विश्लेषण के अन्त में उसका ही निवारण करता था। सुकरात का प्रारम्भिक संशयवाद ज्ञान के अनुसरण में महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। इस प्रकार सन्देह सुकरात के लिये, एक साधन मात्र था।

संवादात्मक या वाद-विवादात्मक पद्धति

सुकरात की पद्धति में संवादात्मक पक्ष व्यापक रूप से मिलता है। वह पारस्परिक संवादों को बहुत उपयुक्त समझता था। सामान्य बातचीत द्वारा सत्यान्वेषण करना वह अधिक सुविधाजनक मानता था। सुकरात का यह दृढ़ विश्वास था कि मनुष्यों में विचार भिन्नतायें होते हुये भी उनमें ऐसी सामान्य बातों को ढूँढा जा सकता है जिनपर सब एकमत हो सकें। मित्रमण्डली के सदस्यों की बातें, विशेषकर प्रश्न-उत्तर के रूप में, बड़ी रोचक होती थीं। साथ-साथ उनसे धारणाओं का अवतरण भी संभव हो जाता था। प्रस्तुत विषय पर विद्वान मण्डली में से कोई एक सदस्य अपनी धारणा बनाकर संवाद प्रारम्भ करता था। सुकरात उसकी गम्भीर आलोचना करता और करवाता था। फलतः एक स्पष्ट धारणा की स्थापना संभव हो जाती थी। इस प्रकार सुकरात विवादों एवं प्रश्नोत्तरों द्वारा अभीष्ट निष्कर्ष पर पहुँच जाता था। निश्चय ही यह एक ऐसी बौद्धिक कला थी जिसके द्वारा विभिन्न प्रकार के दार्शनिक विचारों की उत्पत्ती होती थी। संवादात्मक पद्धति द्वारा ज्ञान की रचना नहीं होती, केवल अस्पष्ट एवं अविकसित ज्ञान को स्पष्ट एवं विशिष्ट बनाती है।

अवधारणात्मक एवं परिभाषात्मक पद्धति

सुकरात की पद्धति अवधारणात्मक तथा परिभाषात्मक भी है। वह वादविवाद के समय धारणाओं का सृजन करता था और विभिन्न पदों जैसे न्याय, साहस, ईमानदारी, दया, की परिभाषाएँ निश्चित करता था। परिभाषाओं से ही यद्यपि ज्ञान नहीं बनता, लेकिन सुकरात का यह दृढ़ विश्वास था कि सूक्ष्म तथा सही परिभाषाएँ ज्ञान के लिए आवश्यक हैं। ये परिभाषाएँ ही अवधारणाओं का दूसरा नाम है। परिभाषा से ही सार्वभौम ज्ञान प्रारम्भ होता है, जिसे अवधारणाओं में आबद्ध किया जाता है। वस्तु या विषय के सामान्य गुणों के आधार पर अवधारणाओं को निर्मित किया जाता है। ये अवधारणाएँ सार्वभौम, निश्चित एवं विशिष्ट होती हैं।

अनुभवात्मक अथवा आगमनात्मक पद्धति

सुकरात की पद्धति व्यावहारिक अथवा आगमनात्मक है, क्योंकि उनकी पद्धति का सीधा सम्बन्ध दैनिक जीवन के अनुभवों से होता था। वह समस्या से सम्बन्धित अनेक घटनाओं और तथ्यों को संकलित करता

था, तब उनमें से सामान्य विशेषताओं वाले तथ्यों को पृथक कर लेता था अर्थात् विशेष तथ्यों के आधार पर वह सामान्य परिभाषाओं की परीक्षा करता था। सुकरात उन्हें व्यवहार एवं अनुभव की दृष्टि से भी जांचता था। विशेष तथ्यों की सामान्य अभिव्यक्ति को वह आवश्यक मानता था। इस प्रकार सुकरात ने आगमनात्मक पद्धति का अनुसरण भी किया।

निगमनात्मक पद्धति

सुकरात के दार्शनिक चिन्तन में निगमनात्मक पद्धति भी मिलती है। जैसे जो परिभाषाएँ बनाई जाती थी, उनके निष्कर्षों तथा परिणामों को घटाकर भी निरीक्षण किया जाता था। सामान्य की पुष्टि के लिये, विशेष तथ्यों का होना आवश्यक समझा जाता था ताकि सामान्य परिभाषाओं या अवधारणाओं को निराधार तथा खोखला न कहा जा सके। सुकरात का विचार था कि पूर्ण संतोष के लिए, किसी भी परिभाषा का आगमन एवं निगमन दोनों प्रकार से सत्यापन करना अति आवश्यक है। सुकरात ने ज्ञान प्राप्ति में दोनों पद्धतियों का प्रयोग किया। जैसे 'सभी मनुष्य मरणशील हैं'— इस तथ्य की परीक्षा दोनों विधियों के आधार पर की जाती थी, ताकि अनुभव एवं चिन्तन दोनों के द्वारा सही-सही सत्यापन सम्भव हो सके और सभी प्रकार का संशय समाप्त हो जाये।

इस प्रकार दर्शन के जगत् में, सुकरात की पद्धति गवेषणात्मक प्रगति के लिए महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई। उसके पश्चात् आने वाले अनेक विचारकों ने उससे लाभ उठाया। प्लेटो की 'द्वन्द्वात्मक पद्धति' सुकरात के चिन्तन का ही एक परिणाम था और अरस्तू को भी अपनी दार्शनिक मान्यताओं को निर्धारित करने में सुकराती-पद्धति से प्रेरणा मिली। आधुनिक युग में, सम्भवतः देकार्त ने भी सुकरात की सन्देहात्मक विधि से बहुत कुछ सीखा। इस प्रकार सुकरात का दार्शनिक प्रभाव भावी चिन्तन पर पड़ा जो व्यवस्थित ज्ञान के लिए लाभप्रद सिद्ध हुआ।

प्लेटो की द्वन्द्वात्मक पद्धति

सुकरात ने यह शिक्षा दी की बौद्धिक तथा शुभ जीवन व्यतीत करने के लिये, शुभ का ज्ञान होना अत्यावश्यक है। उसका दृढ़ विश्वास था कि ऐसा ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और सत्यानुसंधान की कला का उसने संवादों के रूप में पर्याप्त अभ्यास किया। प्लेटो ने अपने गुरु के इस अभ्यास से बहुत लाभ उठाया। उसने एक ऐसी पद्धति अपनायी जिसे वह तार्किक या द्वन्द्वात्मक कहता था। इसी पद्धति द्वारा प्लेटो ने 'धारणाओं के निर्माण' की कला का सृजन किया। उसका यह दृढ़ विश्वास था कि सत्य के विभिन्न पक्षों को जाने बिना, ज्ञान का सिद्धान्त विकसित नहीं किया जा सकता। प्लेटो ज्ञान-मीमांसा के महत्त्व को भली-भाँति समझते थे। उनके अनुसार किसी दार्शनिक का ज्ञान-सम्बन्धी विचार उसके सम्पूर्ण दर्शन का परिचायक होता है। प्लेटो का दर्शन भी पूर्णतया उनकी ज्ञान-मीमांसा पर आधारित है। ज्ञानमीमांसा के भीतर हम ज्ञान के उद्गम, स्वभाव, प्रामाण्य और उसकी सीमा निर्धारित करते हैं। प्लेटो का मत था कि यदि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष को ज्ञान का मूल स्रोत मान लिया जाय तो सोफिस्टों का यह मत कि "मानव

सभी पदार्थों का मानदण्ड है" या "वास्तविक ज्ञान असम्भव है" बिल्कुल यथार्थ हो जायगा। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष हमें केवल विवर्त का ज्ञान प्राप्त कराता है; इससे वस्तुओं के वास्तविक स्वभाव का ज्ञान होना सम्भव नहीं। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञान एक व्यावहारिक ज्ञान है, जो यथार्थ हो सकता है और अयथार्थ भी। व्यावहारिक ज्ञान कभी भी पारमार्थिक ज्ञान का स्थान नहीं ले सकता, क्योंकि बुद्धि की अपेक्षा यह भावनाओं पर आधारित होता है। वास्तविक ज्ञान हमें बुद्धि या प्रज्ञा से ही प्राप्त हो सकता है, परन्तु इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञान से पारमार्थिक ज्ञान की ओर अग्रसर होने के लिए सत्यनिष्ठा परमावश्यक है। सत्यनिष्ठा, सौन्दर्य-चिन्तन से उत्पन्न होती है, जो सत्य के अनुसंधान के लिए प्रेरित करती है। इसके अलावा सत्यनिष्ठा हमें द्वन्द्वात्मक तर्क के लिए भी प्रेरित करती है, जिसका परिणाम सत्य की प्राप्ति होता है। प्लेटो के अनुसार द्वन्द्वात्मक पद्धति के निम्न चार चरण होते हैं:—

1. प्रथम चरण में हम विभिन्न विविक्त विशेषों को एक विज्ञान के अन्तर्स्थ करते हैं अर्थात् सामान्यीकरण।
2. द्वितीय चरण में विज्ञान को उसकी उपजातियों में वर्गीकृत किया जाता है अर्थात् वर्गीकरण।
3. तीसरा चरण तर्क-वाक्यों का है, जिसमें हम एक प्रत्यय का दूसरे प्रत्यय के साथ सम्बन्ध स्थापित कर तर्क-वाक्यों का निर्माण करते हैं अर्थात् तर्कवाक्य।
4. चतुर्थ चरण में कई तर्कवाक्यों को परस्पर सम्बद्ध कर निगमनात्मक अनुमान का निर्माण किया जाता है, जिससे कि हम किसी निर्णय पर पहुँच सकें अर्थात् निगमनात्मक अनुमान।

प्लेटो की दर्शन-पद्धति द्वन्द्वात्मक है, जो वाद-विवाद अथवा प्रश्नोत्तर की पद्धति है। कभी-कभी सामान्य प्रत्ययों के माध्यम से चिन्तन करने की पद्धति को भी द्वन्द्वात्मक तर्क कहते हैं। इन्द्रिय-संवेदनों की अपेक्षा विज्ञान ही हमारे ज्ञान के एक मात्र विषय है। हम किसी को न्यायी अथवा अन्यायी तब तक नहीं कह सकते जब तक कि हमारे भीतर 'न्याय' का प्रत्यय पहले से ही वर्तमान न हो। इस प्रकार प्लेटो, अरस्तू के पुरोगामी दार्शनिक बने। यहाँ पर ध्यान देने की बात है कि प्लेटो के अनुसार विज्ञान अनुभवजन्य नहीं होते। जैसे हम 'न्याय' के विज्ञान का ज्ञान न्याय के विशिष्ट प्रकरणों के आकलन द्वारा नहीं प्राप्त करते। न्याय के विभिन्न प्रकरण जो हमें अनुभव द्वारा प्राप्त होते हैं, आत्मा के भीतर पूर्व-स्थित न्याय के विज्ञान को जागरित करते हैं; वे उसे उत्पन्न नहीं करते। प्लेटो के अनुसार ज्ञान (जो विज्ञान रूप है) आत्मा का स्वाभाविक गुण है; वह कहीं बाहर से नहीं आता। वह ज्ञान को केवल 'विकसित' करता है, उत्पन्न नहीं। इस प्रकार प्लेटो, जर्मनी के महान दार्शनिक काण्ट के भी पुरोगामी बने। प्लेटो के अनुसार 'विज्ञान' अनुभवजन्य नहीं हैं, क्योंकि हमारे अनुभवों में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिनके साथ सत्य-शिवम्-सुन्दरम् की पूर्ण संगति स्थापित की जा सके। बिन्दु, रेखाएँ, समतल, ठोस पिण्ड इत्यादि विज्ञान-मात्र ही हैं, क्योंकि जगत् में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जिसे हम पूर्ण बिन्दु, रेखा, समतल या ठोस पिण्ड कह सकें। अतः विज्ञान अनुभव जन्य नहीं

है। इतना होते हुए भी हम जगत् का साक्षात्कार सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् के आदर्शों अथवा मानदण्डों के माध्यम से करते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् के ये मानदण्ड इन्द्रियजन्य न होकर बुद्धिजन्य हैं। प्लेटों के अनुसार उन मानदण्डों के अतिरिक्त सत्, असत्, भेद, अभेद, एकता, अनेकता, इत्यादि के मानदण्ड भी अनुभवनिरपेक्ष अथवा बुद्धिजन्य हैं।

मध्यकालीन दर्शन की वितंडावादी पद्धति

रोमन साम्राज्य में शिक्षित वर्गों के धर्मांतरण और कलीसियाई संगठन के विकास के साथ ही ईसाई पुरोहित वर्ग ने धीरे-धीरे बौद्धिक नेतृत्व पर अपना अधिकार जमा लिया था, जिस पर पहले दार्शनिक विद्यालयों का कब्जा होता था। अब पुरोहित वर्ग का ज्ञान अभिरक्षक बन चुका था। पूर्व और पश्चिम में लगभग सभी महान लेखकों का संबंध पुरोहित वर्ग से था। फिर भी, मध्य-काल के आरंभ में, जर्मन जातियों के उत्थान के समय ज्ञान की मशाल मंद-मंद झिलमिल रही थी। धर्मनिरपेक्ष पुरोहित वर्ग की अब अधिकतर बर्बर और असभ्य जातियों के पुत्रों में से भर्ती की जाती थी। उन्हें युनानी दर्शन, साहित्य और कला के संवर्धन अथवा शिक्षा में न तो आनन्द प्राप्त होता था और न वे उसमें स्वयं को सम्मानित महसूस करते थे। सातवीं और आठवीं शताब्दियां संभवतः हमारी पश्चिमी युरोपीय सभ्यता का सर्वाधिक अंधकारपूर्ण, असीमित अज्ञानता और पाशविकता का युग है, जिसमें ऐसा प्रतीत होता था कि उत्कृष्ट अतीत की साहित्यिक और कलात्मक उपलब्धियों के भाग्य में नष्ट होना लिखा था। इसी युग में मठ न केवल उत्पीड़ितों और पददलितों के बल्कि घृणित और उपेक्षित उदार कलाओं के आश्रय बन गए। साहित्य, विज्ञान और कला के अवशेषों को अब मठों में ही सुरक्षा मिल रही थी और उनका संवर्धन हो रहा था।

इस युग का दार्शनिक चिन्तन अपने समय की प्रवृत्ति को प्रदर्शित करता है। इसमें परंपरा और सत्ता प्रमुख भूमिका निभाते हैं। विद्वान चर्च, ऑगस्टिन, प्लेटो, अरस्तू अपनी मठवासीय व्यवस्थाओं अथवा अपने विद्यालयों पर अधिक भरोसा करते हैं। चर्च के सिद्धान्तों की सत्यता को मान्यता प्रदान करते हुए और इसके साथ-साथ चिंतन के प्रति शक्तिशाली भावना को महसूस करते हुए, वे जहां भी संभव हो सकता है, अपने दर्शनों में ईसाई आस्था अथवा ईसाई आस्था में अपने दर्शनों के अध्ययन द्वारा उनमें सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास करते हैं। परंतु, आस्था उनके प्रयासों की शुरुआत और अंत है, और धर्मविज्ञान सभी प्रकार के ज्ञान की पराकाष्ठा अथवा राजसी विज्ञान है। जहां भी ज्ञान उन्हें संतुष्ट नहीं करता अथवा तर्क लड़खड़ता जाता है, वहां धर्म की मान्यताओं एवं सत्यताओं पर अधिक विश्वास किया जाता है। कुछ विद्वान उनके गूढ़ार्थों की वजह से उन पर और दृढ़ विश्वास करने लगते हैं और सैद्धांतिक धर्मविज्ञान को निरर्थक अथवा दो प्रकार के सत्यों-विवेक और आस्था-के सत्य सिद्धान्त में सांत्वना ढूँढने का प्रयास कहकर अस्वीकार कर दिया जाता है। आस्था के नियमों को विकसित और सूत्रित करने तथा उन्हें तर्कपूर्ण सिद्धान्त में संगठित करने के लिए पितृदाय दर्शन को ग्रहण कर

लिया गया था। जब इस प्रकार की पृष्ठभूमि में वितंडावाद का उदय होता है तो उसे स्थापित सिद्धान्त के एक व्यवस्थित समूह का मुकाबला करना पड़ता है। उत्तेजना की प्रक्रिया व्यावहारिक रूप से समाप्त हो चुकी थी। इसी प्रकार वितंडावाद को संगठित अधिक्रम से भी मुकाबला करना पड़ता है, जो चर्च और राज्य के हथियारों के साथ सभी मतविरोधियों के विरुद्ध अपनी सत्यताओं का बचाव करने को तैयार और सक्षम है। अब चिंतन का एक ऐसा सिद्धान्त तैयार करने की समस्या सामने आती है, जो धर्मसिद्धान्तों के साथ अथवा विज्ञान और आस्था में सामंजस्य स्थापित कर सकें। मध्यकालीन दार्शनिक का लक्ष्य पूर्व यूनानी दार्शनिकों की भांति, वस्तुओं का तर्कपूर्ण स्पष्टीकरण प्रस्तुत करना है। वे इस कार्य को केवल लक्ष्य की निश्चित पूर्वकल्पना के अनुसार पूरा करने का प्रयास करते हैं। कुछ मूल सत्य पहले से ही ज्ञात हैं। मुक्ति की परियोजना अपने आप में एक सामान्य तथ्य है। दार्शनिक का कार्य इसकी व्याख्या करना, उसे हमारे शेष ज्ञान के साथ संबद्ध करना अथवा उसे बोधगम्य बनाना है। मध्यकालीन विचारक की मान्यताएं दो प्रकार की हैं—(1). धर्म के सत्य तर्कपूर्ण हैं। विवेक और आस्था एक-दूसरे से मेल खाते हैं और दैविक प्रकटन तथा मानवी चिंतन के मध्य किसी प्रकार का संघर्ष नहीं है। या (2). उनमें से कुछ (प्रकटन) मानवी विवेक से बाहर है, फिर भी आस्था द्वारा उनकी गारंटी ली जाती है, जो ज्ञान का एक अन्य साधन है। ऐसी परिस्थितियों में कुछ विकल्प भी संभव हैं। विचारक ईसाई विश्व-दर्शन के साथ शुरुआत कर सकता है और दर्शन अथवा दर्शन के सिद्धान्त विशेष की सहायता लेकर उसे सिद्ध कर सकता है या फिर वह उन समस्याओं पर ध्यान केंद्रित कर सकता है, जिनका धर्मविज्ञान के साथ सीधा संबंध नहीं है। फिर भी प्रत्येक मामले में, धर्मसिद्धान्त नियंत्रक होगा। विद्वान जानबूझकर किसी ऐसी प्रस्थापना को प्रामाणिक स्वीकार नहीं करेगा, जो आस्था के अनिवार्य नियम का विरोध करती हो या फिर उसे स्वीकार करने के लिए वह कुछ स्पष्टीकरण अवश्य देगा और धर्मसिद्धान्त की प्रामाणिकता पर संदेह नहीं करेगा। वह किसी प्रकार स्वयं को यह कहकर संतुष्ट कर सकता है कि दोनों प्रस्थापनाएं, हालांकि वे परस्पर विरोधी हैं, प्रामाणिक हैं, परन्तु वह धर्मसिद्धान्त को नहीं छोड़ेगा।

देकार्त की संदेह पद्धति

देकार्त की दार्शनिक पद्धति का विस्तारपूर्वक वर्णन उनके "बुद्धि के निर्देश के लिए नियम" नामक ग्रन्थ में हुआ है। इसका संक्षिप्त विवेचन "पद्धति का विमर्श", "प्राथमिक दर्शन की साधना" तथा "दर्शन के मूल सिद्धान्त" में हुआ है। परन्तु देकार्त की दार्शनिक पद्धति समझने के पहले हमें मानव-ज्ञान के स्वरूप को समझने का प्रयास करना चाहिए। देकार्त विशुद्ध बुद्धिवादी थे। वे प्रभुत्व एवं परम्परा के सदा विरोधी रहे हैं। उनके दर्शन की दो पूर्व धारणाएँ थीं जिन पर उनका अटूट विश्वास था—

1. मानवीय बुद्धि के पास यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने की अपूर्व क्षमता विद्यमान है।

2. मानवीय बुद्धि के पास यथार्थ ज्ञान को अयथार्थ से पृथक करने की कसौटी भी विद्यमान है।

उपर्युक्त दोनों क्षमताओं को डेकार्टस ने बुद्धि का स्वाभाविक प्रकाश कहा है। इस बुद्धि के दो व्यापार हैं—प्रथम प्रतिभान (Intuition) एवम् द्वितीय निगमन।

प्रतिभान

बुद्धि के निर्देश के नियम' में प्रतिभान को परिभाषित करते हुए डेकार्टस लिखते हैं "प्रतिभान से हमारा तात्पर्य न तो इन्द्रियों के अस्थिर साक्ष्य से है और न इस भ्रामक निर्णय से है, जो दोषपूर्ण कल्पना—विधान से उत्पन्न होता है, वरन् उस धारणा से है, जिसे विशुद्ध और सावधान बुद्धि इतनी तत्परता और सुभिन्नता से हमें प्रदान करती है कि उसके विषय में कोई सन्देह या अनिश्चितता नहीं रह जाती है। इस प्रकार प्रतिभान एक बौद्धिक दर्शन है। यह स्पष्ट ज्ञान है। किन्तु यह न तो प्रत्यक्ष ज्ञान है और न काल्पनिक ज्ञान ही। प्रत्यक्ष तथा कल्पना स्वतः प्रामाणिक नहीं होते पर प्रतिभान स्वयंप्रकाश तथा स्वतः प्रामाणिक होता है। यह अकाट्य तथा असंदिग्ध ज्ञान है। प्रतिभान बुद्धि का निरीक्षण है। अतः इसमें त्रुटि की तनिक भी गुंजाइश नहीं है। प्लेटो ने भी शारीरिक प्रत्यक्ष एवम् बौद्धिक ज्ञान में भेद करते हुए कहा था कि तत्त्व का वास्तविक ज्ञान आत्म—चक्षु द्वारा ही हो सकता है। डेकार्ट ने इसी को प्रतिभान की संज्ञा दी है। प्रतिभान के उदाहरण निम्न हैं—आकृति, विस्तार, गति इत्यादि का ज्ञान, जैसे— $2+2=4$ तथा आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान, त्रिभुज तीन सरल रेखाओं से घिरी आकृति है, इत्यादि का ज्ञान। प्रतिभान की आगे व्याख्या करते हुए डेकार्ट कहते हैं कि यह स्वतः सिद्ध ज्ञान है जो किसी प्रकार के प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता। स्वयं प्रमाणों की सत्ता इस स्वतः सिद्ध सत्य से सिद्ध होती है। यदि स्वतः सिद्ध सत्य न हो तो प्रमाणों का अस्तित्व ही न रहे। प्रतिभान मौलिक नियम होते हैं। इन नियमों के द्वारा ही प्रमाणों में प्रमाणत्व आता है। यदि इन नियमों को भी किसी अन्य नियम से सिद्ध करने की आवश्यकता स्वीकार की जाय तो उसमें अनवस्था दोष अवश्य उत्पन्न हो जायेगा। अतः, बुद्धि के इन आधारभूत मौलिक नियमों को स्वतः सिद्ध सत्य मानना पड़ता है। इस स्वतः सिद्ध सत्य का ज्ञान हमें निर्विकल्प बुद्धि द्वारा होता है, जिसे डेकार्ट ने प्रतिभान की संज्ञा दी है।

निगमन

निगमन प्रतिभान से भिन्न होता है। प्रतिभान स्वतः सिद्ध होता है, किन्तु निगमन की प्रामाणिकता को सिद्ध करने की आवश्यकता होती है। प्रतिभान साक्षात् और अपरोक्ष ज्ञान है, परन्तु निगमन प्रतिभान पर आधारित है और प्रतिभान पर आश्रित होने के कारण निगमन उतना ही सत्य और अकाट्य होता है, जितना कि प्रतिभान। जैसे $4+5=9$ एक प्रतिभान है, तथा $3+6=9$ एक दूसरा प्रतिभान है, $4+5$ एवम् $3+6$ दोनों अभिव्यञ्जक एक ही संख्या 9 के बराबर होने के कारण परस्पर बराबर होंगे, यह भी एक प्रतिभान है। परन्तु $4+5=3+6$ निगमन है जो कई प्रतिभानों द्वारा व्युत्पन्न है। प्रतिभानों द्वारा उत्पन्न होने के कारण यह उतना ही सत्य अकाट्य और प्रामाणिक है,

जितना कि स्वयं प्रतिभान। डेकार्ट के अनुसार आधार—वाक्य का तो प्रतिभान द्वारा ज्ञान होना ही चाहिए साथ—साथ अनुमान—प्रक्रिया का भी प्रतिभान द्वारा पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। जब तक इस अनुमान—प्रक्रिया का प्रतिभान द्वारा पूर्ण ज्ञान नहीं होगा तब तक निगमन सम्भव नहीं हो सकता। इस मत के विरुद्ध कुछ लोग आक्षेप करते हैं कि अनुमान—प्रक्रिया तब तक सम्भव नहीं है, जब तक कि आधार—वाक्य और निष्कर्ष वाक्य दोनों का हमें पूर्ण ज्ञान नहीं हो जाता। परन्तु यह तर्क अनुमान—प्रक्रिया को ही व्यर्थ एवम् अनावश्यक सिद्ध कर देता है। जब हमें निष्कर्ष वाक्य का पहले ही पूर्ण ज्ञान हो जायेगा तो हम अनुमान—प्रक्रिया प्रारम्भ ही क्यों करेंगे ? अतः इससे निष्कर्ष निकलता है कि अनुमान—प्रक्रिया का ज्ञान आधार—वाक्य व निष्कर्ष वाक्य के ज्ञान से पूर्णतया स्वतन्त्र है। अतः वह पद्धति जो स्वयं प्रतिभान पर आधारित है तथा जिसके द्वारा हम प्रतिभान द्वारा स्थापित आधार—वाक्य से कोई निष्कर्ष—वाक्य व्युत्पन्न करते हैं, निगमन कही जाती है। यहाँ ध्यान रखने की बात यह है कि डेकार्ट के लिए निगमन कोई तर्क अथवा अनुमान नहीं है, अपितु किसी वाक्य के अवबोध की एक प्रणाली है। यह उपपत्ति—विधि न होकर एक सरलीकरण—विधि है, जिसमें निगमन प्रतिभान का ही एक परिवर्धित रूप है। दूसरी बात जो यहाँ ध्यान देने की है, वह यह है कि डेकार्ट अवबोध व ज्ञान के बीच तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करते हैं। किसी वाक्य के अवबोध या ज्ञान का केवल इतना ही अर्थ नहीं होता कि हमें उसका साधारण ज्ञान हो जाय वरन् उसका वास्तविक अर्थ यह है कि उस वाक्य की यथार्थता या अयथार्थता दोनों का ज्ञान साथ होना चाहिए। यह बिल्कुल असम्भव है कि हमें किसी बात का ज्ञान हो और हम उसकी यथार्थता या अयथार्थता के विषय में बिल्कुल अनभिज्ञ रहें। प्रतिभान एवम् निगमन इन दो व्यापारों के साथ डेकार्ट ने बुद्धि के एक तीसरे व्यापार का भी वर्णन किया है, जिसे आगमन का नाम दिया गया है, परन्तु इस शब्द का प्रयोग उन्होंने एक विशिष्ट अर्थ में किया है। साधारणतया आगमन एक प्रत्यक्षमूलक या प्रयोगमूलक प्रणाली होती है, जिसमें हम कुछ विशिष्ट तर्क—वाक्यों के आधार पर एक सामान्य तर्क—वाक्य का निष्कर्षण करते हैं। इसके विरुद्ध डेकार्ट का आक्षेप यह है कि यह प्रणाली निगमानात्मक प्रणाली पर निर्भर होती है और उसी के निर्देश में कार्य करती है। बिना पूर्व सामान्य ज्ञान के विशेषों से सामान्य की ओर हम अग्रसर हो ही नहीं सकते। उनका दूसरा आक्षेप यह है कि आगमन हमें निश्चयात्मक ज्ञान की प्राप्ति कराता है। इस प्रकार डेकार्ट इस साधारण अर्थ में आगमन शब्द का प्रयोग नहीं करते। उनके अनुसार आगमन का वास्तविक अर्थ—बुद्धि द्वारा स्वयं—सिद्ध नियम और निगमन—क्रमों की परिगणना करना।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि प्रतिभान एवम् निगमन डेकार्ट की दार्शनिक प्रणाली के अनिवार्य अंग हैं। परन्तु इन्हें विशुद्ध रूप से प्रयोग करना हमारे लिए कठिन ही है। इसका कारण यह है कि शरीर हमारी बुद्धि को प्रभावित कर इसे विकृत कर देता है और इस विकृति के कारण बुद्धि को जो ज्ञान

प्राप्त होता है, वह वास्तविक ज्ञान न होकर भ्रम या विपर्यय ही होता है। इसका परिणाम यह होता है कि बुद्धि निगमानात्मक प्रणाली का सम्यक् प्रयोग नहीं कर पाती। बुद्धि का सम्यक् प्रयोग तभी सम्भव है, जबकि बुद्धि निर्भ्रान्त और स्वस्थ हो। अतः बुद्धि को सत्त्वशुद्ध करना अथवा उसे भ्रमों और पूर्वाग्रहों से मुक्त करना डेकार्ट की निगमानात्मक प्रणाली की प्रथम शर्त है। ब्रिटिश दार्शनिक फ्रान्सिस बेकन ने भी अपना दर्शन प्रारम्भ करने के पूर्व अपने चिन्तन को अन्धविश्वासों से मुक्त रखने की चेष्टा की थी। इसी क्रम में डेकार्ट ने भी अपने विचारों को पूर्वाग्रहों से मुक्त रखने के लिए सुव्यवस्थित संशय का सहारा लिया। इसका तात्पर्य यह है कि हमें अपने सभी मतों पर तब तक संशय करना चाहिए जब तक कि हम उनकी प्रामाणिकता के प्रति आश्वस्त न हो जाये। उनका संशय संशयवादियों का संशय नहीं है, जिनके लिए संशय साधन न होकर साध्य होता है। डेकार्ट का संशय असंदिग्ध ज्ञान का केवल साधन है। अतः यह वितण्डावाद न होकर ज्ञान प्राप्ति का अचूक साधन है।

संशयात्मक प्रणाली के नियम

डेकार्ट ने वैध एवम् प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए अपनी संशयात्मक प्रणाली के कुछ सूत्रों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है, जिनका विस्तृत वर्णन उनकी सुप्रसिद्ध पुस्तक प्रणाली का विमर्श (Discourse on Method) में पाया जाता है। इन सूत्रों को निम्न महत्त्वपूर्ण सूत्रों में घटित किया जा सकता है अर्थात् 1. लक्षण-सूत्र, 2. विश्लेषण-सूत्र, 3. समाहार-सूत्र।

लक्षण सूत्र

डेकार्ट ने इस सूत्र के अनुसार, "जिस वस्तु को मैं प्रामाणिक रूप में सत्य नहीं जानता उसे सत्य न मानना अर्थात् सावधानी से उतावलेपन और पूर्वाग्रह से दूर रहना तथा अपने निर्णयों में किसी ऐसी वस्तु को शामिल न करना जो बुद्धि के समक्ष स्पष्ट और सुभिन्न रूप से प्रगट न हो और जिस पर संशय करने की गुंजाइश रहे।" इस सूत्र में सत्य ज्ञान का लक्षण प्रस्तुत किया गया है। डेकार्ट के अनुसार सुस्पष्टता (Clearness) एवम् सुभिन्नता (Distinctness) सत्य ज्ञान के लक्षण हैं। जो ज्ञान स्पष्ट है उसके लिए अनिवार्य नहीं है कि वह सुभिन्न भी हो परन्तु जो ज्ञान सुभिन्न है, उसके लिए अनिवार्य है कि वह स्पष्ट भी हो। प्रातिभ ज्ञान स्पष्ट और सुभिन्न दोनों होता है, परन्तु प्रत्यक्ष और कल्पना केवल स्पष्ट है, वे सुभिन्न नहीं होते। अतः सावधान बुद्धि के समक्ष उपस्थित ज्ञान स्पष्ट ज्ञान है तथा निरपेक्ष वस्तु का ज्ञान सुभिन्न ज्ञान है।

विश्लेषण सूत्र

इससूत्र को व्यक्त करते हुए डेकार्ट कहते हैं कि, "मुझे जिन समस्याओं का परीक्षण करना था, उनमें से प्रत्येक को उतने भागों में बाँटना जितने उनके समाधान के लिए आवश्यक है।" इस नियम के अनुसार किसी मिश्रित वस्तु को अनेक भागों में बाँटा जाता है। विभाजन की यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है, जब तक कि उसके भाग अविभाज्य या अविश्लेष्य न हो जाँय। इन अविश्लेष्यों का ज्ञान स्पष्ट और सुभिन्न होता है। इसी स्पष्ट और सुभिन्न ज्ञान के द्वारा पता चलता है कि वे

अविश्लेष्य परम् तत्त्व या मूल तत्त्व हैं, जिनसे प्रस्तुत मिश्रित वस्तु का निर्माण हुआ है।

संश्लेषण सूत्र

इस सूत्र में डेकार्ट बताते हैं कि, "तीसरे स्तर पर अपने विचारों को एक क्रम में रखना है। प्रथम उन वस्तुओं को रखना जो मौलिक हैं और जो सरलता से जानी जाती हैं। पुनः उन वस्तुओं को रखना जो मौलिक हैं और जो सरलता से जानी जाती हैं। पुनः, क्रमशः उनसे विलिप्त वस्तुओं को रखना। उन वस्तुओं को भी इस क्रम में रखना है जो वास्तव में इस क्रम में नहीं हैं। इस प्रकार सभी वस्तुओं को सरलता-विलिप्तता के क्रम में रखना अनिवार्य है, भले ही वह क्रम काल्पनिक ही क्यों न हो।"

इस प्रकार डेकार्ट की संशयात्मक प्रणाली विश्लेषणात्मक होने के साथ संश्लेषणात्मक भी है। विश्लेषण द्वारा हमें जिन तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त होता है, उनसे हम क्रमशः निष्कर्ष निकालते हैं। निष्कर्षण की यह प्रक्रिया ज्यामितिक प्रणाली के क्रम में रखी जाती है। जिस प्रकार ज्यामितिक प्रणाली में सर्वप्रथम स्वयंसिद्धियाँ (Axioms) होती हैं और फिर उनसे प्रतिज्ञप्ति (Propositions) निकाली जाती हैं तथा जब वे प्रतिज्ञप्ति सिद्ध हो जाती हैं, तब वे प्रमेय (Theorems) का रूप धारण कर लेती हैं, ठीक उसी प्रकार डेकार्ट अपनी निगमानात्मक प्रणाली के द्वारा मूल तत्त्वों के निष्कर्षों को संगठित करके अपने ज्ञान का प्रसाद खड़ा करता है। जिस प्रकार ज्यामिति में प्रमेयों को इस क्रम में रखा जाता है कि परवर्ती प्रमेयों को सिद्ध करने के लिए पूर्ववर्ती प्रमेयों का उपयोग हो, परन्तु प्रमेयों को सिद्ध करने के लिए परवर्ती प्रमेयों की सहायता न लेनी पड़े, ठीक उसी प्रकार डेकार्ट संश्लेषण सूत्र के आधार पर अपने विभिन्न ज्ञानों को क्रमबद्ध करता है। इस नवीन प्रणाली के निर्माण की प्रेरणा उन्हें ज्यामिति से मिली। सच पूछा जाय तो डेकार्ट ने ज्यामितिक प्रणाली का ही प्रयोग दर्शन तथा विज्ञान के क्षेत्र में किया। इतना ही नहीं उन्होंने यह भी दिखाने का प्रयास किया कि सत्य ज्ञान प्राप्त करने की यही एकमात्र प्रणाली हो सकती है।

समाहार सूत्र

डेकार्ट ने इस सूत्र में विचार व्यक्त करते हुए कहा कि, "अन्त में, प्रत्येक प्रसंग में आगमन को इतना पूर्ण बनाना और परीक्षण को इतना व्यापक बनाना कि मुझे विश्वास हो जाय कि कोई वस्तु छूट नहीं गई। इन चार औपचारिक सूत्रों में प्रथम एवम् द्वितीय सूत्र वैज्ञानिक अनुसंधान के सूत्र हैं। तृतीय सूत्र वैज्ञानिक उपपत्ति अथवा निदर्शन (Demonstration) का सूत्र है। चौथा सूत्र पहले के तीन सूत्रों का पुनर्परीक्षण है, जिसके द्वारा बुद्धि प्रातिभ ज्ञान द्वारा ज्ञान की अखण्डता और समरसता के प्रति आश्वस्त होती है। इस प्रक्रिया द्वारा बुद्धि यह जानने का प्रयत्न करती है कि किसी भी प्रकार की त्रुटि शेष न रह जाय। डेकार्ट ने इसे आगमन की संज्ञा दी है।

स्पिनोजावादी पद्धति

डेकार्ट ने जिस पद्धति की प्रतिष्ठापना की उसी का अनुसरण स्पिनोजा ने किया। उसने भी यह माना कि दर्शन का मूल उद्देश्य विशुद्ध तथा सार्वभौम ज्ञान की प्राप्ति करना है और बुद्धि ही सार्वभौम ज्ञान का अन्वेषण कर

सकती है। देकार्ट तथा स्पिनोजा दोनों ही गणितज्ञ थे और दोनों ने दार्शनिक क्षेत्र में गणित जैसी विधि का अनुकरण करने का प्रयास किया। स्पिनोजा परिभाषाओं तथा सिद्धान्तों से प्रारम्भ होकर युक्तिवाक्यों की स्थापना करने पर बल देता है, जैसा कि रेखागणित में होता है। स्पिनोजा के अनुसार जिस प्रकार रेखागणित की प्रस्तावनाएं अपनी तार्किक मान्यताओं का अनुसरण करती हैं, उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ विश्व के प्रथम सिद्धान्तों से अनुसरित होता है अर्थात् दर्शन में जगत् की व्याख्या ईश्वर की प्रकृति के अनुरूप की जा सकती है, जो समस्त वस्तुओं का प्रथम कारण है। जिस प्रकार गणित के निगमन में जो निष्कर्ष निकलते हैं। वे मात्र अनित्य प्रभाव न होकर, नित्य परिणाम होते हैं। उसी प्रकार प्रथम कारण (ईश्वर) से वस्तुओं का काल की दृष्टि से विकास नहीं होता, बल्कि शाश्वत रूप से उनका अवतरण होता है। काल तो विचार का एक प्रकार है। आदि और अन्त नाम की कोई चीज नहीं है। केवल 'नित्यता' है। जिस प्रकार रेखागणित में किसी समस्या पर विचार किया जाता है, स्पिनोजावादी सिद्धान्त में भी संसार पर उसी प्रकार विचार किया जाता है। ऐसा कहा जाता है कि जिस प्रकार रेखागणित की प्रस्थापनाएं अनिवार्य रूप से अपनी तार्किक पूर्वकल्पनाओं का परिणाम होती हैं, उसी प्रकार प्रत्येक चीज संसार के प्रथम सिद्धान्त अथवा आधार से निकलती है। जिस प्रकार गणितीय निगमन में परिणाम केवल दैहिक प्रभाव ही नहीं बल्कि सिद्धान्त की भांति शाश्वत होते हैं, उसी प्रकार चीजें प्रथम सिद्धान्त का परिणाम होती हैं। समय के साथ उनकी उत्पत्ति नहीं होती, वे अनंत काल से मौजूद हैं। समय केवल चिंतन की विधि है। कोई भूत और भविष्य नहीं होता, वे अनंत काल से मौजूद हैं। समय केवल चिंतन की विधि है। कोई भूत और भविष्य नहीं है, केवल अनंतकाल है। बुद्धिसंगत अथवा तार्किक आधार और वास्तविक आधार के मध्य कोई अंतर नहीं किया जाता। विचार और प्राणी एक ही हैं। वास्तविकता में एक वस्तु दूसरी वस्तु से निकलती है अथवा उत्पन्न होती है, उदाहरण के लिए, संसार एक कारणात्मक जंजीर है, जिसकी प्रत्येक कड़ी का अनिवार्य रूप से अपने से पहली कड़ी के साथ संबंध होता है, जैसे विवेचन की प्रक्रिया में प्रत्येक निष्कर्ष आधारवाक्यों पर आधारित होता है। इसके अतिरिक्त, जिस प्रकार गणितीय प्रदर्शन में एक प्रस्थापना किसी अन्य चीज का अनिवार्य परिणाम होती है, उसी प्रकार प्रकृति में भी प्रत्येक चीज किसी अन्य चीज का अनिवार्य प्रभाव होती है। समग्रता एक परस्पर संबंधित व्यवस्था है, जिसमें प्रत्येक भाग का अपना अनिवार्य स्थान होता है। अर्थात् स्पिनोजावादी सिद्धान्त कठोरता से नियतत्ववादी है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार गणित में कोई प्रयोजन अथवा योजना नहीं होती, उसी प्रकार प्रकृति में भी कोई प्रयोजन अथवा योजना नहीं होती। इस अर्थ में यह सिद्धान्त सोद्देश्यवाद का विरोधी है। ईश्वर में कैसे योजना हो सकती है? विचार विस्तृत प्रकृति की भांति आधारभूत तत्व की विशेषता है और वह उसके परम सिद्धान्त के रूप में उससे पहले नहीं आ सकता। ईश्वर से प्रयोजन को संबंधित करना चिंतन को वरीयता देना

होगा, जबकि चिंतन ईश्वर की विशेषता अथवा अभिव्यक्ति है और उसका स्तर विस्तार जैसा ही है।

लाइबनिट्ज की प्रदर्शनात्मक पद्धति

देकार्ट ने ईश्वर को एक निरपेक्ष द्रव्य मानकर, मन तथा शरीर दो और द्रव्यों को स्वीकार किया। उसने मन का विशेषण चिन्तन और शरीर का विशेषण विस्तार बतलाया। स्पिनोजा ने केवल एक ही सार्वभौम द्रव्य को माना और कहा कि चिन्तन तथा विस्तार इसी द्रव्य के विशेषण हैं। एक ने द्वैतवाद की स्थापना की तो दूसरे ने एकत्ववाद की, परन्तु दोनों ही दार्शनिकों ने मानसिक तथा शारीरिक क्षेत्रों को एक दूसरे से बिल्कुल अलग-अलग रखा। अन्तर केवल इतना है कि देकार्ट मानव मस्तिष्क की पिनियल-ग्रन्थि के आधार पर मन तथा शरीर में अन्तक्रिया स्वीकार कर लेता है, जबकि स्पिनोजा किसी प्रकार की अन्तक्रिया को नहीं मानता। दोनों का कहना है कि भौतिक वस्तुओं की व्याख्या भौतिक आधार से ही हो सकती है। यह जगत् एक मशीन के समान है, जो अपने नियमों के अनुसार संचालित होता है। इस यांत्रिक व्याख्या का विरोध उन लोगों ने किया जो चर्च के अधिकारों को सर्वोच्च मानते थे। इन्हीं लोगों ने स्पिनोजा जैसे विचारकों के दर्शन को नास्तिकता से प्रेरित कहकर उनको निन्दित किया।

अपने पूर्ववर्ती दार्शनिकों की भांति लाइबनिट्ज शास्त्रीय दर्शन से अच्छी तरह परिचित था। प्रारम्भ में वह परम्परावादी दर्शन से प्रभावित तो हुआ, परन्तु आधुनिक दर्शन के अध्ययन और अपने ही 'अतिसूक्ष्म-गणना सिद्धान्त' के पश्चात् उसके विचारों में महत्त्वपूर्ण विकास हुआ। विज्ञान एवं दर्शन के प्रति न्याय करने की दृष्टि से, लाइबनिट्ज ने यंत्रवाद तथा प्रयोजनवाद, प्राचीन तथा आधुनिक चिन्तन, में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया। लाइबनिट्ज ने अपने शिक्षक तथा जेना के प्रसिद्ध गणितज्ञ वाइगेल से 'पाइथेगोरियन-प्लेटोवादी विश्वसामंजस्य' विचारधारा को ग्रहण किया। फलतः लाइबनिट्ज ने कभी भी इस विचार का परित्याग नहीं किया कि विश्व एक सामंजस्यपूर्ण सम्पूर्णता है, जो गणित तथा तर्क के सिद्धान्तों द्वारा संचालित होती है। अतः गणित तथा तत्त्वज्ञान ही मौलिक विज्ञान हैं और प्रदर्शनात्मक पद्धति ही दर्शन की सच्ची पद्धति है। लाइबनिट्ज को बुद्धिवादी दार्शनिक परम्परा में तीसरा प्रकाण्ड पण्डित कहा जाता है। उसका ज्ञान-सिद्धान्त उसकी तात्त्विक मान्यताओं पर निर्भर है। वह ज्ञान के बुद्धिवादी सिद्धान्त को मानता है। उसके अनुसार, ज्ञान सार्वभौम तथा अनिवार्य होता है और वह ऐसे सिद्धान्तों पर आधारित है, जो अनुभव से प्राप्त नहीं होते। यह जगत् एक गणितात्मक-तार्किक व्यवस्था है, जिसे केवल बुद्धि ही भलीभांति समझ सकती है। आत्मा चिद्बिन्दु (Monad) के रूप में एक स्वतन्त्रसत्ता है, जिस पर किसी बाह्य कारण का प्रभाव नहीं पड़ सकता। अतः ज्ञान कहीं बाहर से नहीं आ सकता, बल्कि स्वतः अन्दर से ही जाग्रत होता है। आत्मा धुलि हुई स्लेट के समान नहीं है और न बाहर से उस पर कोई प्रभाव अंकित होता है, जैसा कि लॉक ने आगे चलकर माना है। समस्त ज्ञान मन में ही जन्म से निहित होता है। यद्यपि अनुभव ज्ञान को उत्पन्न नहीं

करता, परन्तु अनुभव के द्वारा ज्ञान स्पष्ट होता है अर्थात् ज्ञान का प्रदर्शन अनुभव में होता है। अनुभववादी जब यह कह सकते हैं कि बुद्धि में ऐसी कोई चीज नहीं हो सकती जो पहले कभी संवेदन में नहीं रही हो तो यह बात ठीक प्रतीत होती है, परन्तु लाइबनिट्ज कहता है कि बुद्धि की प्रधानता तो रहेगी ही। लाइबनिट्ज यह मानता है कि ज्ञान इन्द्रियों से प्राप्त नहीं होता। यदि यह मान लिया जाये कि वह होता है तो सार्वभौम ज्ञान असंभव हो जायेगा। तथाकथित आनुभविक तथ्यों में अनिवार्यता नहीं होती। वे आकस्मिक युक्तिवाक्य ही होते हैं। हम यह नहीं कह सकते कि चूँकि अमुक बात अनुभव में घटी है, वह सदैव वैसे ही घटेगी। सार्वभौम तथा अनिवार्य युक्तिवाक्य इन्द्रियजन्य नहीं हो सकते। उनका मूलाधार स्वतः मन में होता है। अनुभव से निश्चित ज्ञान नहीं मिल सकता। अनुभव में किसी घटना के असंख्य उदाहरण मिल जाते हैं। किन्तु उनसे यह सिद्ध नहीं होता कि अनिवार्यतः सदैव वैसा ही होगा। यह ठीक है कि अग्नि से जलने के अनेक उदाहरण व्यावहारिक जीवन में मिलते हैं, परन्तु अनुभव यह प्रमाणित नहीं करता कि अग्नि सदैव जलायेगी ही। लाइबनिट्ज के अनुसार, इन्द्रिय अनुभव के बिना भी, सार्वभौम तथा अनिवार्य युक्तिवाक्य प्राप्त हो सकते हैं, जैसा कि गणित में होता है। सार्वभौम तथा अनिवार्य युक्तिवाक्यों में मन का कुछ ऐसा योगदान है जिसे इन्द्रियाँ नहीं दे सकती। तर्कशास्त्र, नीति-विज्ञान धर्मशास्त्र और न्यायशास्त्र ऐसे युक्तिवाक्यों से भरे पड़े हैं, जिनके सिद्धान्तों का मूलाधार मन के अलावा कहीं नहीं हो सकता। लाइबनिट्ज यह तो मानता है कि अनुभव के बिना इन सिद्धान्तों से परिचय नहीं हो सकता। इन्द्रियाँ उन सिद्धान्तों की जानकारी के लिए अवसर प्रदान करती हैं। उनको उत्पन्न नहीं करतीं। इन सार्वभौम सिद्धान्तों की जानकारी के अभाव में किसी विज्ञान की कल्पना नहीं कर सकते। अनिवार्य सत्यों का अन्तिम प्रमाण बुद्धि से ही प्राप्त होता है। अनुभव से अन्य बातें मिलती हैं। मन को इन दोनों का ज्ञान होता है। किन्तु अनिवार्य सत्यों का मूल स्रोत मन नहीं है। किसी सार्वभौम सत्य के अनेक उदाहरण भले ही हमें अनुभव में मिल जायें। किन्तु आगमन पद्धति से सार्वभौम तथा अनिवार्य तर्कवाक्यों की स्थापना नहीं हो सकती। इन्द्रियानुभव में सार्वभौम सत्यों के तथ्य मिल सकते हैं, किन्तु वह उनकी नित्य एवं अनिवार्य निश्चितता को प्रमाणित नहीं कर सकता। लाइबनिट्ज यह मानता है कि प्रत्यय तथा सत्य, प्रवृत्तियों, भावनाओं एवं प्राकृतिक शक्तियों की भाँति जन्मजात होते हैं। वे क्रियाओं की तरह नहीं होते, हालांकि ये शक्तियाँ कुछ निश्चित, किन्तु असंवेदनशील क्रियाओं के साथ जुड़ी होती हैं, जो उनकी ओर संकेत करती हैं। इस दृष्टि से गणित तथा रेखागणित हमारे मन में विद्यमान हैं। हम उन्हें किसी अनुभव के बिना भी खोज सकते हैं। तादात्म्य जैसे सामान्य सिद्धान्त हमारे चिंतन की जान हैं। मन हर समय उन्हीं पर निर्भर होकर सब कुछ करता है, चाहे उन्हें जानने के लिए कितना ही ध्यान क्यों न देना पड़े। इतना अवश्य है कि इन सिद्धान्तों से परिचय करने में अनुभव का महत्वपूर्ण स्थान है। मनुष्य तर्कशास्त्र के नियमों को स्वतः ही अपने तर्कों में प्रयोग करता है। इसी तरह

तत्त्वज्ञान तथा नीतिविज्ञान के क्षेत्र में ऐसे जन्मजात सिद्धान्त होते हैं।

इस प्रकार प्रत्ययों को ग्रहण करने वाले किसी अधिकरण (Faculty) की धारणा, लाइबनिट्ज के अनुसार, कल्पना मात्र है। शास्त्रीयवाद के विद्वानों ने शुद्ध अधिकरण अथवा शक्तियों की धारणा की स्थापना की, जो बिल्कुल निरर्थक है। वे अमूर्त हैं। उनका कोई निष्क्रिय अधिकरण नहीं होता। आत्मा स्वयं जन्मजात सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करने के लिए तत्पर रहती है। आत्मा में निश्चित प्रवृत्तियाँ होती हैं। आत्मा को जागरूक करने के लिए, अनुभव आवश्यक है, किन्तु उन प्रत्ययों को उत्पन्न नहीं कर सकता। अनुभववादी यह आपत्ति करते हैं कि बुद्धि में कोई बात नहीं हो सकती जो पहले संवेदन में न रही हो। यहाँ तक तो ठीक लगते हैं, किन्तु वे भूल जाते हैं कि बुद्धि तो पहले से ही रहती है। आत्मा में स्वतः सत्, द्रव्य, एकता, तादात्म्य, कारणता, प्रत्यक्ष, तर्क तथा परिणाम की धारणाएँ होती हैं, जिन्हें इन्द्रियों द्वारा कभी प्राप्त नहीं किया जा सकता।

उपर्युक्त दृष्टि से, यह स्पष्ट है कि लाइबनिट्ज ने प्रागानुभववाद तथा अनुभववाद का समन्वय करने का प्रयास किया है। अविभाज्य चिदणु की क्रिया होने से इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और बुद्धि समान होते हैं, किन्तु उनमें अंशों का भेद होता है। संवेदन अस्पष्ट तथा अस्त-व्यस्त प्रत्यय होते हैं। लेकिन बुद्धि के प्रत्यय स्पष्ट और विशिष्ट होते हैं। इन्द्रिय प्रत्यक्ष वस्तुओं को उनकी सच्ची वास्तविकता, उनको सक्रिय आध्यात्मिक द्रव्य या चिद्बिन्दु के रूप में न जानकर अस्पष्टता के कारण आकाशिक (Spatial) और दृष्टि-विषयक (Phenomenal) समझता है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष चिद्बिन्दुओं की सामंजस्यपूर्ण व्यवस्था को उसकी वास्तविकता में नहीं देख पाता। उसे प्रपंचित भौतिक जगत् समझता है। प्रत्यक्ष के द्वारा आध्यात्मिक व्यवस्था आकाशिक दृष्टिगोचर होती है। लाइबनिट्ज के अनुसार, आकाश, आकृति, गति, विश्राम, आदि के प्रत्ययों का मूल शुद्ध बुद्धि का मूल शुद्ध बुद्धि के प्रत्यय होने के नाते मन में ही होता है और उनका प्रसंग वाह्य जगत् में होता है। इस दृष्टि से, आकाश का प्रत्यय मन में जन्मजात है, जैसा कि आगे चलकर काण्ट के दर्शन में मिलता है। लाइबनिट्ज के अनुसार आकाश यथार्थ नहीं है। चिद्बिन्दुओं की व्यवस्था में, आकाश मात्र एक भौतिक प्रतीति है।

अनुभववादी दार्शनिक पद्धति

अनुभववादी दार्शनिक पद्धति में बुद्धि के स्थान पर अनुभव को ज्ञान का स्रोत माना गया है। जिसमें जॉन लॉक, बर्कले एवं डेविड ह्यूम अनुभववादी दार्शनिक के रूप में जाने जाते हैं। अनुभववादी लॉक ने अपनी दार्शनिक अनुभववादी पद्धति में सर्वप्रथम देकार्त के 'जन्मजात प्रत्ययों के सिद्धान्त' की परीक्षा की। प्रत्ययों के सम्बन्ध में, देकार्त ने यह कहा था कि सभी प्रत्ययों की सत्ता पहले से ही मन में होती है अर्थात् वे ईश्वर-प्रदत्त हैं और किसी अनुभूति के बिना, सभी व्यक्तियों में स्पष्टतया पाये जाते हैं। परन्तु लॉक का कहना है कि मन को अपने जन्मजात सिद्धान्तों का, यदि उनकी सत्ता है, तो बोध होना चाहिए

और यदि मन को जिस चीज का अनुभव न हो, उसे हम मन में नहीं मान सकते, लॉक जन्मजात सत्तों की धारणा का विरोध करने के लिए ही नहीं, बल्कि उसे असत्य सिद्ध करने के लिए प्रमाण देता है। लॉक ने कहा कि आदमी के मन में कोई भी कल्पनात्मक तथा व्यावहारिक सिद्धान्त पहले से नहीं होते। यदि उनकी सत्ता हो भी तो उनको भी अन्य सत्तों की भाँति ही प्राप्त किया गया होगा। यदि आत्मा में किसी ऐसे सिद्धान्त की सत्ता हो सकती है, जिसका उसे बोध न हुआ हो तो यह भेद करना असम्भव हो जायेगा कि क्या जन्मजात है और क्या नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि सर्वप्रथम आदमी जब बुद्धि का प्रयोग करता है तो इन सिद्धान्तों से परिचय कर लेता है, क्योंकि बच्चे अशिक्षित तथा जंगली लोगों को बुद्धि के स्तर तक पहुँचने में बड़ा समय लगता है। किसी तर्कवाक्य की तत्काल स्वीकृति का अर्थ यह नहीं है कि वह जन्मजात है। यदि सभी प्रत्यय जन्मजात हैं, तो उनका ज्ञान स्वतः होना चाहिए जो जीवन में संभव नहीं है।

लॉक आगे कहते हैं कि जो बात बौद्धिक प्रत्ययों के विषय में कहीं जा सकती है, वही नैतिक और धार्मिक प्रत्ययों के सम्बन्ध में भी कहीं जा सकती है। नैतिक नियमों को भी जन्मजात नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे स्वयंसिद्ध या सार्वभौम रूप से मान्य नहीं हैं और वे मनुष्यों को क्रिया करने की प्रेरणा नहीं देते, जो बहुत से लोगों की दृष्टि में पाप है, वह अन्यों के लिए कर्तव्य है। जो कुछ लोगों के लिए शुभ है, अन्यों के लिए अशुभ है। कुछ विद्वान नैतिकता को सापेक्ष मानते हैं और कुछ निरपेक्ष। यदि यह कहा जाये कि जन्मजात प्रत्ययों को पक्षपात, शिक्षा आदि से अस्पष्ट बना दिया जाता है, तो उनकी सार्वभौम मान्यता से इन्कार करना है। यदि यह मान भी लें कि जन्मजात प्रत्ययों को नष्ट नहीं किया जा सकता तो उन्हें आदमी बच्चे तथा असभ्य लोगों में समान रूप से प्रकट होना चाहिए जो व्यवहार में असत्य प्रतीत होता है। देकार्त ने ईश्वर की जन्मजात धारणा पर अधिक बल दिया और यह कहा कि ईश्वर का प्रत्यय सार्वभौम है। लॉक ने इसे स्वीकार नहीं किया। तथ्य यह है कि अनेक कबीले ईश्वर के प्रत्यय को या तो जानते नहीं या फिर ईश्वर की धारणा उनके मन में स्पष्ट नहीं हैं। यदि समस्त मानव जाति ईश्वर की धारणा से परिचित भी हो तो इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि वह जन्मजात हैं। वस्तुतः अनेक लोग ईश्वर की धारणा से पहले तो परिचित ही नहीं हैं और हैं भी तो उसका अनुभव में कोई स्पष्टीकरण नहीं मिलता। अतएव ईश्वर सम्बन्धी प्रत्यय भी सार्वभौम नहीं कहा जा सकता। अग्नि, सूर्य, गर्मी तथा संख्या ऐसे प्रत्यय हैं, जिन्हें समस्त मानव प्राणी जब सृष्टि में दैवी शक्ति और ज्ञान का आभास देखने का प्रयत्न करेगा तो वह एक ईश्वर की धारणा तो बना ही लेगा। इस प्रकार लॉक देकार्त के जन्मजात प्रत्ययों के सिद्धान्त को अस्वीकार कर देता है।

इस प्रकार यदि जन्मजात प्रत्ययों के समर्थन में यह कहा जाय कि जन्मजात प्रत्यय अस्फुट रूप में रहते हैं और कालान्तर में स्पष्ट हो जाते हैं, तो जन्मजात प्रत्ययों की विशेषता जाती रहती है, क्योंकि यही बात अन्य सभी प्रत्ययों के प्रति भी लागू होती है कि वे कालान्तर में

स्पष्ट हो जाते हैं। दूसरे देकार्त ने जन्मजात प्रत्ययों की निश्चित तालिका तो नहीं दी, किंतु उसने यह बतलाया कि जन्मजात अथवा सहज प्रत्यय वे हैं जो सार्वभौमिक हैं। इस प्रसंग में लॉक का कहना है कि शायद ही ऐसा कोई प्रत्यय हो जिसे सार्वभौमिक सिद्ध किया जा सके और यदि कुछ प्रत्ययों को सार्वभौम मान भी लिया जाये तो उनकी सार्वभौमिकता की व्याख्या सहजता या जन्मजात के आधार पर न होकर, अनुभव से ही स्पष्ट हो सकती है। लॉक के अनुसार, प्रत्यय और सिद्धान्त, कला और विज्ञान की भाँति जन्म जात नहीं हैं। वह कहता है कि मन एक धुली स्लेट (Tabula Rasa) अन्धेरी कोठरी, सफेद कागज के समान है। प्रारम्भिक स्थिति में, मन गुणहीन या प्रत्यय रहित होता है। मन में पहले से कोई विचार नहीं होता और न उसमें ज्ञान की सामग्री ही होती है। अब प्रश्न यह उठता है कि मन ज्ञान की समस्त सामग्री कहाँ से प्राप्त करता है ? लॉक इस प्रश्न का उत्तर एक शब्द में देता है: 'अनुभव' से। हमारा समस्त ज्ञान अन्ततः अनुभव पर आधारित है। लॉक के ज्ञानशास्त्र का यही सार है। यहीं से उसके अनुभववादी दर्शन का प्रारम्भ होता है। अनुभववाद की यह मौलिक मान्यता है कि प्रत्ययों की सत्ता पहले से मन में नहीं होती, क्योंकि जन्म के समय प्रत्येक व्यक्ति का मन सफेद कागज के समान होता है। फिर प्रत्यय मन में कहाँ से आते हैं ? प्रत्ययों को प्राप्त करने के दो ही मार्ग होते हैं— संवेदन तथा आत्म-चिन्तन (Sensation and Reflection) संवेदन और आत्म-चिन्तन ऐसी दो ही खिड़कियाँ हैं, जिनके द्वारा मन रूपी कूप में ज्ञान-रश्मियाँ आती हैं। जो कुछ भी ज्ञान है, इन्हीं दो द्वारों से प्राप्त होता है।

डेविड ह्यूम की दार्शनिक पद्धति

लॉक का सुधार करने में बर्कले ने अनुभववाद का पर्याप्त विकास किया, परन्तु ह्यूम की दृष्टि में लॉक के अनुभववाद का वास्तविक रूप जो बर्कले के दर्शन में मिलता है, नहीं है। बर्कले ने भी बहुत बड़ी भूल की है। उन्होंने जड़ द्रव्य का तो खंडन कर दिया, परन्तु मन तथा ईश्वर जैसे आध्यात्मिक द्रव्य को स्वीकार कर लिया। ह्यूम का विचार है कि जब तक अनुभव ही एक मात्र ज्ञान का साधन माना गया है, और हमें अनुभव प्रत्ययों का ही होता है, फिर प्रत्ययों के अतिरिक्त अन्य किसी आध्यात्मिक द्रव्य को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार ह्यूम, लॉक के अनुभववाद को अधिक परिमार्जित रूप में प्रस्तुत करने के प्रयास में बर्कले से भी आगे निकल जाते हैं। लॉक के अनुभववाद की तार्किक माँग यही थी कि अनुभव के अतिरिक्त हमें किसी अन्य की सत्ता स्वीकार नहीं करनी चाहिए। बर्कले ने इस माँग में से जड़ द्रव्य का तो खंडन किया, परन्तु आध्यात्मिक द्रव्य के रूप में मन (आत्मा) और ईश्वर को प्रत्यय के आधार के रूप में स्वीकार कर लिया। ह्यूम को इन दोनों को अस्वीकार करने में देर नहीं लगी। ह्यूम ने बताया कि जिस प्रकार जड़ द्रव्य प्रत्ययों का समूह है, उसी प्रकार मन या आत्मा भी प्रत्ययों का समूह मात्र है। ह्यूम ने देखा कि उनके पूर्वगामी होने के नाते तो हमें केवल उन्हीं बातों को मानना चाहिए, जिनका कोई अनुभव होता है। इसीलिए उन्होंने 'आत्मा' और 'ईश्वर' का अस्तित्व स्वीकार नहीं

किया, क्योंकि हमें इनका कोई इन्द्रिय अनुभव नहीं है। डेविड ह्यूम अनुभव को ही ज्ञान का एकमात्र साधन मानते हैं। उनके अनुसार संस्कार और प्रत्यय अनुभव के दो अंग हैं। बाहरी जगत् से या हमारे भीतर से जो अनुभव प्राप्त होते हैं, उन्हें 'संस्कार' या संवेदना कहते हैं और इन्हीं का जो क्षीण रूप हमारे मन में रहता है, उन्हें 'प्रत्यय' कहते हैं। संस्कार अधिक स्पष्ट और तीव्र होता है और प्रत्यय अपेक्षाकृत कम तीव्र तथा अस्पष्ट होता है। जैसे संगीत सुनते समय जो संस्कार या संवेदन होता है, वह कुछ समय बाद उतना तीव्र और स्पष्ट नहीं रह जाता। संवेदन का यह रूप प्रत्यय कहलाता है। जिस वस्तु का संस्कार बनता है, उसी का प्रत्यय भी बनता है। संवेदन और प्रत्यय मन को प्राप्त होते हैं, और यही दोनों वास्तविक होते हैं। इसके अतिरिक्त किसी वस्तु की वास्तविकता स्वीकार नहीं की जा सकती, क्योंकि वह अनुभववाद की सीमा में नहीं है। ह्यूम के अनुसार संस्कार और प्रत्यय के बीच कोई अनिवार्य संबंध नहीं है, परन्तु इतना संबंध अवश्य है कि एक के बाद दूसरा आता है। ह्यूम अपने इसी सिद्धान्त से आत्मा, ईश्वर तथा कार्य-कारण-नियम आदि की समीक्षा करते हैं और इनको अस्वीकार कर देते हैं। आत्मा की सत्ता के विषय में ह्यूम कहते हैं कि "अन्तर्दर्शन द्वारा हम जब अपने आपको जानने की चेष्टा करते हैं तो हमें आत्मा जैसी किसी वस्तु का अनुभव नहीं होता। हमें केवल हर्ष, शोक, विषाद आदि के पृथक-पृथक संस्कारों (संवेदनों) का ही अनुभव होता है, आत्मा का कोई संस्कार नहीं मिलता।" इसी प्रकार ह्यूम ईश्वर के 'संस्कार' को भी मनस में नहीं पाते। " बर्कले ने कहा था कि हमारे प्रत्ययों का एक कारण होना चाहिए, अर्थात् ईश्वर। किन्तु ह्यूम कार्य-कारण-भाव की धारणा में विश्वास नहीं करता, इसलिए वह प्रत्ययों के कारण की आवश्यकता भी स्वीकार नहीं करता अर्थात् कारण के रूप में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं किया जा सकता। ईश्वर का कोई संस्कार हमारे मनस में नहीं है। शुद्ध अनुभववाद के आधार पर ह्यूम ने कार्य-कारण सिद्धान्त को भी अस्वीकार कर दिया। इस सम्बन्ध में उनका तर्क है कि हम केवल एक घटना को दूसरी घटना के बाद घटता हुए देखते हैं। दोनों घटनाओं के बीच कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं दिखाई देता। एक घटना को दूसरी घटना के बाद घटते हुए हम यह नहीं कह सकते कि एक घटना दूसरे का कारण है या एक में दूसरे को जन्म देने की शक्ति है, क्योंकि किसी ऐसी शक्ति का हमें प्रत्यक्ष नहीं होता। इस प्रकार ह्यूम ने कार्य-कारण के नियम का भी खंडन करके ज्ञान की संभावना को नष्ट कर दिया और अनुभववाद को संशयवाद के गर्त में डाल दिया। सारांशतः यह कहा जा सकता है कि लॉक के प्रत्यय प्रतिनिधित्ववाद को लेकर चलने वाले ह्यूम को सभी ज्ञान में संशय होने लगा और फलस्वरूप ह्यूम का अनुभववाद संशयवाद में बदल गया। यही कारण है कि ह्यूम के संशयवाद को लॉक के अनुभववाद का तार्किक परिणाम कहा गया है।

कान्ट की आलोचनात्मक अथवा समीक्षात्मक पद्धति

कान्ट के अनुसार बुद्धिवाद और अनुभववाद की मीमांसा से यह स्पष्ट होता है कि बुद्धिवाद में बुद्धि पर

विश्वास किया जाता है और उसके अनुसार बुद्धि स्वतः सिद्ध और सार्वभौम नियमों द्वारा तत्त्व ज्ञान प्राप्त कर सकती है। गणित को बुद्धिवाद अपना आदर्श मानता है। बुद्धिवाद के विपरीत अनुभववाद ने ज्ञान का एक मात्र स्रोत अनुभव (इन्द्रिय अनुभव) को ही माना है। इसके अनुसार बुद्धि के कोई नियम न तो अनुभव निरपेक्ष हो सकते हैं और न ही जन्मजात या सहज हो सकते हैं। कान्ट के मत में बुद्धिवाद का अन्त अन्धविश्वास में हुआ और अनुभववाद का अन्त सन्देहवाद में हो गया। "कान्ट के अनुसार तत्त्व-समीक्षा के पूर्व ज्ञान-समीक्षा अत्यावश्यक है। ज्ञान की उत्पत्ति प्रामाण्य और सीमा जान लेना दर्शन का सर्वप्रथम कार्य होना चाहिए। यद्यपि लॉक ने तत्वमीमांसा के पहले ज्ञानमीमांसा को आवश्यक और महत्वपूर्ण माना तथापि उनकी प्रणाली केवल मनोवैज्ञानिक विश्लेषण मात्र रह गयी और वे ज्ञान की सही आलोचना नहीं कर पाए। यही कारण था कि लॉक का इन्द्रिय अनुभववाद ह्यूम में जाकर सन्देहवाद बन गया। इसीलिये कान्ट ने सर्वप्रथम ज्ञान की आलोचना को ही अपना लक्ष्य बनाया। ज्ञान की आलोचना किए बिना, ज्ञान की उत्पत्ति प्रामाण्य और सीमा को जाने बिना तत्त्व समीक्षा करना व्यर्थ है। न तो बुद्धिवादियों के समान ज्ञान में अन्धविश्वास करना चाहिए और न इन्द्रियानुभववादियों के समान ज्ञान में आत्मघाती और अनावश्यक सन्देह। बुद्धिवाद के अन्धविश्वास और इन्द्रियानुभववाद के आत्मघात सन्देह, इन दोनों से बचकर ज्ञान की उत्पत्ति, प्रामाण्य और सीमा की सही आलोचना को दर्शन का सर्वप्रथम और अत्यावश्यक कार्य मानने के कारण कान्ट ने अपने दर्शन को ' आलोचनात्मक ' कहा है। कुछ लोग कान्ट के मत को ' आलोचनात्मक ' इसलिए भी कहते हैं कि कान्ट ने अपने ज्ञान सिद्धान्त को रखने के पहले, अपने से पहले के सिद्धान्तों अर्थात् बुद्धिवाद एवं अनुभववाद की आलोचना की। इस प्रकार कान्ट के आलोचनावाद के लिए प्रस्तुत किए गए दोनों तर्क उपयुक्त सिद्ध होते हैं, क्योंकि कान्ट ने निश्चित रूप से तत्वमीमांसा के पूर्व ज्ञानमीमांसा को आवश्यक समझा। ज्ञान से सम्बन्धित विषयों की आलोचना भी उन्होंने की और अपने से पहले के ज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्तों की समीक्षा या आलोचना भी की। वैसे कान्ट तो दोनों मतों से प्रभावित हुए थे। एक ओर वे बुद्धिवादी लाइबनिट्ज और वोल्फ से प्रभावित थे और यह मानते थे कि बुद्धि ही निश्चित और सार्वभौम ज्ञान उत्पन्न कर सकती है, इन्द्रिय अनुभव में यह शक्ति नहीं जो निश्चित और सार्वभौम ज्ञान दे सके। दूसरी ओर कान्ट अनुभववाद से भी अत्यधिक प्रभावित हुए, क्योंकि उन्होंने यह देखा कि ह्यूम ने अपने प्रहारों से बुद्धिवाद के महल को तहस-नहस कर दिया था। इसे देखकर कान्ट ने ह्यूम तथा उनके सन्देह के बारे में कहा कि " ह्यूम ने मुझे अन्धविश्वास की मोह निद्रा से जगा दिया।" इतना कहने के पश्चात् कान्ट इन दोनों मतों की आलोचना करते हैं। इनकी आलोचना से कान्ट ने यह निष्कर्ष निकाला कि दोनों एकांगी हैं। दोनों में आंशिक सत्य और असत्य है, इसलिए दोनों को सफल नहीं कहा जा सकता। कान्ट ने बुद्धिवाद तथा अनुभववाद की निष्पक्ष आलोचना निम्न रूपों में की। कान्ट के अनुसार हमारा ज्ञान इन्द्रिय-संवेदन और

बुद्धि-विकल्प दोनों के सम्मिश्रण से बनता है। कान्ट ने यह समझा कि अनुभववाद और बुद्धिवाद दोनों अकेले स्वतन्त्र रूप से निश्चित और सार्वभौम ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकते। कान्ट की दृष्टि में दोनों के सहयोग से ही ज्ञान संभव हो सकता है। ज्ञान में यथार्थता तो अनुभव के कारण आती है और बुद्धि के कारण ज्ञान निश्चित और सार्वभौम होता है। कान्ट ने ज्ञान की पहचान के लिए यथार्थता, निश्चितता और सार्वभौमिकता को आवश्यक माना है। अनुभववाद इन शर्तों को अकेले पूरा नहीं कर सकता। वह सत्य से परिचय तो जरूर कराता है, परन्तु इन्द्रियसंवेदन ही प्राप्त करते हैं। इन क्षणिक तथा असम्बद्ध संवेदनाओं की श्रृंखला ज्ञान का रूप तभी धारण कर सकती है, जब इसमें बुद्धि का भी सहयोग होगा अर्थात् जब बुद्धि अपने नियमों से नियमित करके उसे व्यवस्थित रूप दे। इसी तरह दूसरी ओर बुद्धि से हमें निश्चित और सार्वभौम ज्ञान की प्राप्ति अवश्य हो सकती है, परन्तु यदि वह ज्ञान की सामग्री अनुभव से प्राप्त नहीं हुयी, तो वह ज्ञान निश्चित और सार्वभौम होते हुए भी सत्य नहीं होगा। ज्ञान के लिए इन्द्रिय-संवेदन रूपी उपादान या द्रव्य की और बुद्धि-विकल्प रूपी स्वरूप देने वाले साँचे की आवश्यकता है, तभी ज्ञान यथार्थ, निश्चित और सार्वभौम होगा। जैसे, सोने की अँगूठी के लिए सोने और अँगूठी का साँचा, जिसमें ढलकर सोना अँगूठी का रूप ले लेता है, दोनों की आवश्यकता है। केवल सोने के डले को उँगली में नहीं पहना जा सकता, और यदि सोना न हो तो भले ही सुनार के पास अँगूठी का साँचा हो, अँगूठी नहीं बन सकती। कान्ट ने अनुभववादियों को चींटी के रूप में और बुद्धिवादियों को मकड़ी के रूप में देखा क्योंकि जिस प्रकार चींटी बाहर से सामग्री लाकर इकट्ठा करती है, मकड़ी अपने अन्दर से सामग्री निकाल कर अपने चारों ओर जाला बुनती है। इसी प्रकार अनुभववादी इन्द्रियानुभव द्वारा प्राप्त बहिर्जगत की सामग्री पर निर्भर करते हैं और बुद्धिवादी अपने मनस के प्रत्ययों के आधार पर सत्य का ढाँचा खड़ा करते हैं। सच्चा ज्ञान न तो चींटी की तरह है, और न मकड़ी की तरह, बल्कि वह मधुमक्खी की तरह है, जो बाहर से सामग्री लाकर उस पर कार्य करती है, और उसे दूसरा रूप देकर संचित करती है। अनुभव से हमें ज्ञान की सामग्री मिलती है, बुद्धि अपने विकल्पों की सहायता से इस सामग्री को यथार्थ ज्ञान के रूप में परिणत करती है। इस सम्बन्ध में कान्ट का प्रसिद्ध कथन है कि “ इन्द्रिय संवेदनों के बिना बुद्धि विकल्प शून्य अर्थात् पंगु है और बुद्धि विकल्पों के बिना इन्द्रिय संवेदन अंध अर्थात् खाली है।

कान्ट की अनुभवातीत पद्धति (Transcendental Method of Kant)

कान्ट की यह अनुभवातीत पद्धति आधुनिक दर्शन के चिन्तन जगत् में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। वैसे तो देकार्त एवं लाइबनिट्ज ने उपयुक्त पद्धतियों का प्रयोग किया, किन्तु उन्होंने उन्हीं पद्धतियों को अपने दर्शन में अपनाया जो विशेष विज्ञानों में प्रचलित थीं। उन्होंने नवीन पद्धतियों का आविष्कार नहीं किया। देकार्त ने गणित की पद्धति को अपनाया और अपने ढंग से उसका उपयोग किया। लाइबनिट्ज ने आगमानात्मक-गणित पद्धति के

मिश्रित रूप को स्वीकार किया। कान्ट ने नवीन पद्धति की स्थापना की जिसका दर्शन क्षेत्र में अपना ही स्थान है। अनुभववाधारित युक्ति तथा उसकी अनिवार्य मान्यताएँ अनुभवातीत पद्धति की जड़ हैं। इसलिए कान्ट की व्याख्या अनुभववादियों की परम्परावादी व्याख्या से बिल्कुल भिन्न है। अनुभववाद आगमानात्मक विधि से अनुभव के तथ्यों के आधार पर परिकल्पनाएँ बनाता है और सामान्यीकरण करता है। लेकिन कान्ट प्रदर्शनात्मक रूप से तथ्यों में उन अनिवार्य शर्तों की खोज करता है, जिससे सामान्यीकरण तथा परिकल्पनाएँ संभव हो सकें। अनुभववाद वास्तविकता पर अधिक बल देता है। कान्ट उसके वास्तविक महत्त्व की परीक्षा करता है। अनुभववादी आगमानात्मक विधि से चिन्तन करता है, किन्तु कान्ट प्रदर्शनात्मक दृष्टि से। इसी बात को कान्ट ने इस प्रकार व्यक्त किया है, “यद्यपि हमारा समस्त ज्ञान अनुभव से प्रारम्भ होता है, किन्तु इससे यह फलित नहीं होता कि ज्ञान अनुभव से उत्पन्न होता है।” कान्ट यह कहता है कि अनुभव की कुछ रूपात्मक विशेषताएँ हैं, जैसे आकाश (Space), काल (Time), तथा श्रेणियाँ (Categories) जिनकी ओर हमें ध्यान देना चाहिये। प्रश्न यह है कि अनुभव की अनिवार्य शर्तें क्या हैं? कान्ट का उत्तर है कि अनुभव केवल इसी मान्यता पर संभव है कि अनुभव में पाई जाने वाली रूपात्मक विशेषताएँ अर्थात् आकाश, काल एवं श्रेणियाँ, अनुभव की प्रागानुभव (A Priori) शर्तें हैं। कान्ट के अनुसार काल एवं दिक् का वस्तुओं की तरह अस्तित्व नहीं है। न वे गुण हैं और न सम्बन्ध। वे हमारे दृष्टिकोण हैं, जिनसे संवेदनों को देखा जाता है। वे इन्द्रियों की क्रियाएँ या रूप हैं। यदि जगत् में दिक् और काल का प्रत्यक्ष करने वाला कोई नहीं होता तो यह जगत् दिगात्मक और कालिक न होता। विचारमय द्रष्टा के न होने पर सारा मूर्त जगत् तिरोहित हो जाता क्योंकि जगत् द्रष्टा की संविद् (Sensibility) मात्रके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। दिक् के न होने की हम कभी कल्पना नहीं कर सकते, हालांकि हम वस्तु रहित दिक् के बारे में सोच सकते हैं। हम दिक् के सन्दर्भ में ही कल्पना तथा चिन्तन करने के लिये बाध्य हैं। दिक् दृश्य वस्तुओं की अनिवार्य शर्त होने से एक अनिवार्य प्रागानुभव प्रत्यय है। यह कान्ट की दार्शनिक अनुभवातीत पद्धति का एक उदाहरण है। हम दिक् के बिना वस्तुओं के बारे में नहीं सोच सकते, अतः दिक् समस्त वस्तुओं के प्रत्यक्ष की अनिवार्य पूर्व शर्त है। जो कुछ भी अनिवार्य पूर्व शर्त है, वह मन का प्रागानुभव रूप होना चाहिए। इसी प्रकार की युक्ति काल के विषय में भी दी जा सकती है।

जार्ज विल्हेल्म हेगेल की द्वन्द्वात्मक पद्धति (Dialectical Method of G.W.Hegal)

हेगेल के अनुसार, “यदि दर्शन का कार्य पदार्थों के स्वरूप को जानना एवं समझना है और यथार्थता का विश्लेषण करना है तथा अस्तित्व व उसके उद्देश्य को जानना है, तो निश्चय ही उसकी पद्धति इन बातों के अनुकूल होनी चाहिये। उस पद्धति को जगत् के बौद्धिक क्रम और संसार में बुद्धि के विकास का निरूपण करना चाहिये। इस प्रयोजन की प्राप्ति कलात्मक अनुभूतियों

अथवा रहस्यमय विधि से नहीं हो सकती जैसा कि शेलिंग और अन्य विद्वान् मानते हैं। यथार्थ चिन्तन के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है। दर्शन एक धारणात्मक ज्ञान है जैसा कि कान्ट ने कहा, किन्तु हेगेल के अनुसार, अमूर्त प्रत्ययों से यथार्थता का ज्ञान नहीं हो सकता। सामान्य अमूर्त विचार यथार्थ (Reality) के विभिन्न स्वरूपों को पृथक-पृथक देखता है। आवश्यकता यथार्थ को सम्पूर्ण दृष्टि से जानने की है। बुद्धि विश्लेषण, विरोध तथा सम्बन्ध स्थापित करने के सिवाय और कुछ नहीं कर सकती। बुद्धि विरोधों और वस्तुओं के आन्तरिक जीवन तथा उद्देश्य को नहीं समझ सकती। हेगेल के अनुसार, समस्त अस्तित्व सत् है जो चित् (Idea) है क्योंकि चित् ही यथार्थता है। (Real is Rational and Rational is Real) चित् सम्पूर्ण तथा उसके समस्त अंगों में व्याप्त है। सभी अंगों की यथार्थता इसी एकता में निहित है। वह क्रिया जो सब वस्तुओं को सम्पूर्णता में देखती है, विरोधों को एक करती है, मन की उच्च क्रिया है, जिसे मात्र बुद्धि नहीं कहा जा सकता। दो क्रियाएँ अर्थात् चिन्तनशील मन और अमूर्त बुद्धि, दोनों ही साथ-साथ काम करती हैं।

आगे हेगेल बताते हैं कि विचार-साधारण, अमूर्त तथा खोखली धारणाओं से प्रारम्भ होकर अधिक मिश्रित, यथार्थ और ठोस धारणाओं की ओर बढ़ता है, जिन्हें हेगेल अन्तर्बोध या प्रज्ञाएँ (Notions) कहता है। हेगेल इसी विधि को, जिसका संकेत कान्ट ने दिया और फ़िक्टो तथा शेलिंग ने प्रयोग किया, 'द्वन्द्वात्मक पद्धति' मानता है। इसमें तीन अवस्थाएँ होती हैं। सर्वप्रथम हम किसी अमूर्त सार्वभौम धारणा को लेकर चलते हैं जिसे 'वाद' (Thesis) कहते हैं। यह धारणा एक अन्तर्विरोध (Contradiction) को जन्म देती है, जिसे 'प्रतिवाद' (Antithesis) कहा जाता है। इन विरोधी धारणाओं का एक तीसरी धारणा में समन्वय हो जाता है, जिसे दो विरोधों की एकता (Synthesis) कहते हैं। उदाहरण के लिये पार्मेनाइडीज ने कहा कि "सत् अपरिवर्तनशील है"। हेरेक्लाइटस ने बताया कि "सत् निरन्तर परिवर्तनशील है", परमाणुवादियों ने इन दो विरोधों का समन्वय किया और कहा कि "सत् परिवर्तनशील तथा अपरिवर्तनशील दोनों है"। परन्तु हेगेल के अनुसार क्रम इसी समन्वय पर नहीं रुक जाता। ये समन्वयात्मक धारणाएँ नये विरोधों को जन्म देती हैं। जिनसे नई समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार यह द्वन्द्वात्मक क्रम यथार्थता की अभिव्यक्ति के रूप में निरन्तर चलता रहता है। जब तक हम निरपेक्ष धारणा तक नहीं पहुँच जाते, तब तक द्वन्द्वात्मक क्रम अविराम चलता रहता है। किन्तु एक ही धारणा समस्त सत् का प्रतिनिधित्व नहीं कर पाती। सभी धारणाएँ आंशिक सत्य हैं। सत् अथवा ज्ञान समस्त धारणाओं की तार्किक व्यवस्था से निर्मित होता है। प्रत्येक धारणा मौलिक धारणा से ही उत्पन्न होती है। सत्, स्वयं एक बौद्धिक यथार्थता के रूप में, सजीव तार्किक क्रम है अर्थात् एक विचार से दूसरा विरोधी विचार अनिवार्यतः उत्पन्न होता है और दोनों का फिर तीसरे विचार में समन्वय हो जाता है। यह द्वन्द्वात्मक क्रम विचार की स्वयं तार्किक अभिव्यक्ति है। हेगेल यहाँ यह बताते हुए मालूम पड़ता है कि मानों विचार स्वतः चिंतन

करते हैं। उनमें कोई आन्तरिक अनिवार्यता है, जो जीवित अवयव के समान है, जो अपनी शक्तियों तथा प्रतिभाओं की स्वयं अभिव्यक्ति करता है और अन्त में, मूर्त सार्वभौम (Concrete Universal) का रूप धारण कर लेता है। प्रत्येक चिंतक को अपने विचारों में इसी क्रम को अबाधित चलाने देना चाहिये, क्योंकि यह क्रम, यदि सही ढंग से चलता रहे तो वह विश्व-क्रम के निकट ही है। यह उसी विकास का अनुकरण होगा जो समस्तवस्तुओं में अन्तर्निहित है। इस प्रकार हम ईश्वर के पश्चात् उसके विचारों के विषय में चिंतन कर सकते हैं। द्वन्द्वात्मक चिन्तन एक ऐसी पद्धति या क्रम है जो सजीव, गतिशील, अवयवी सत्ता के प्रति न्याय करता है। उसमें भेदों तथा विरोधों का समन्वय हो जाता है। हेगेल के अनुसार, सत् (Being) एक बौद्धिक क्रम है, जिसका निश्चित अर्थ है। यह कोई अबौद्धिक प्रवाह नहीं है, असंगठित निरपेक्षतः अर्थहीन घटना नहीं है, बल्कि एक व्यवस्थित विकास, एक अविरल प्रगति है। जो भी भेद तथा आत्यान्तिक विरोध दृष्टिगत होते हैं, उसके अन्तर्गत समन्वित हो जाते हैं। यथार्थता को सार और प्रतीति, बाह्य और आभ्यान्तरिक, द्रव्य तथा गुण, ससीम और असीम, मन और पुद्गल, जगत् और ईश्वर की दृष्टि से विभाजित करके देखना निरर्थक भेदों तथा ऐच्छिक कल्पनाओं में फंसना है। जगत् का कोई बाह्य और आन्तरिक रूप नहीं है। सार ही प्रगति है, आभ्यान्तरिक ही बाह्य है, मन ही शरीर है, ईश्वर ही जगत् है। हेगेल के अनुसार यथार्थता एक तार्किक विकास है। यह एक आध्यात्मिक क्रम है, जिसे हम उसी समय समझ सकते हैं, जब हम उसका अपने अन्दर अनुभव करें। स्मरण रहे कि यह क्रम विशेष प्रत्ययों का प्रावाह नहीं है, न कोई व्यावहारिक या मनोवैज्ञानिक क्रम है। सत् ऐसा निरपेक्ष प्रत्यय है जिसकी झलक हमें व्यक्तियों के चिन्तन में मिलती है। विचार विकासात्मक है, जो बौद्धिक ढंग से प्रगति की ओर बढ़ता है, उसकी प्रगति तार्किक या द्वन्द्वात्मक है। इस दृष्टि से, विचार सार्वभौम, इन्द्रियानुभवातीत, जैसा कि हेगेल कहता है, तात्त्विक है।

इस प्रकार हेगेल के दर्शन में प्रतिपक्षों के तादात्म्य की उपलब्धि त्रिक-नियम के अनुसार होती है। जिसके तीन अंग हैं—पक्ष, प्रतिपक्ष, और समन्वय। जगत् का विकास इस द्वन्द्वात्मक पद्धति के द्वारा ही सम्पन्न होता है। इसमें समन्वय, पक्ष एवं प्रतिपक्ष का केवल गणितीय योग नहीं वरन् उसका उच्चतर समन्वय है। समन्वय में पक्ष एवं प्रतिपक्ष का विरोध शान्त हो जाता है। इसीलिए समन्वय अथवा संपक्ष को निषेध का निषेध या विरोध का विरोध कहते हैं। इसी द्वन्द्वात्मक गति के अनुसार हम निम्नतर सत्ता से उच्चतर सत्ता की ओर अग्रसर होते हैं और यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है, जब तक कि हम निरपेक्ष तत्त्व को प्राप्त नहीं कर लेते। हेगेल के दर्शन की प्रथम त्रयी ऐसे ही प्रतिपक्षों का तादात्म्य है, यह सत् और असत् का तादात्म्य है, जिसे परिणाम कहते हैं। परिणाम या संभवन शब्द संसार के किसी नवीन पदार्थ की अभिव्यक्ति न कर या तो प्रतिपक्षों के तादात्म्य को व्यक्त करता है या उस गति को व्यक्त करता है, जिससे संसार में विकास सम्भव होता है। अतः सम्भवन सम्पूर्ण तर्क का न्यूनतम मूलाधार है। संभवन त्रयी

का केवल एक घटक नहीं है। इसका प्रयोग सम्पूर्ण त्रयी के लिये किया गया है। सत् और असत् मिलकर जिस समन्वय का निर्माण करते हैं, वह संभवन न होकर सगुण होना है, परन्तु संभवन शब्द का प्रयोग तर्क की सम्पूर्ण द्वन्द्वात्मक पद्धति के लिए किया जाता है। प्रतिपक्षों की एकता से हेगेल का तात्पर्य किसी विशुद्ध एकता से नहीं वरन् उसके तत्त्वों के सतत् विरोध की एकता से है। संभवन चिन्तन की उस आत्म-विभेदीकरण की प्रक्रिया का परिणाम है, जिसमें प्रत्येक वस्तु दो परस्पर विरोधी भ्रान्तियों का समन्वय होती है। यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि द्वन्द्वात्मक संभवन कोई देशकालिक प्रक्रिया नहीं है, अपितु यह वह चेतन प्रक्रिया है, जिसके द्वारा संसार में गति, प्रगति, जीवन, वृद्धि और विकास पाया जाता है।

उद्देश्य

प्रस्तुत शोध पत्र का उद्देश्य पाठको को पाश्चात्य दर्शन की उन शोध प्रविधियों से परिचय कराना है, जिनके अध्ययन से वह चिन्तन की बारीकियों को समझकर, अपने मस्तिष्क को प्रखर बना सकता है और मानव, जीवन एवं जगत् का अध्ययन करते समय अपने अपाको को विभिन्न प्रकार के पूर्वाग्रहों एवं अन्धविश्वासों से मुक्त रख सकता है।

निष्कर्ष

इस प्रकार हम पाश्चात्य दर्शन की इन दार्शनिक प्रविधियों का अध्ययन करने के बाद, अपनी मानसिक क्षमता एवं अपने चिन्तन को अधिक से अधिक प्रखर बना सकते हैं और चिन्तन की उन गहराईयों में गोता लगा सकते हैं, जहाँ सामान्य मनुष्य का पहुँचना संभव नहीं है। अतः पाश्चात्य दर्शन की इन दार्शनिक विधियों का मानव के जीवन में अति महत्वपूर्ण स्थान है और यही कारण है कि पाश्चात्य दर्शन को विज्ञान का मार्गदाता कहा जाता है। दर्शन की ऐसी विधियाँ ही विज्ञान एवं अन्य विषयों का मार्गदर्शन करती हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. जार्ज टामसव्हाइट पैट्रिक, दर्शनशास्त्र का परिचय, (अनुवादक:-उमेश्वर प्रसाद मालवीय), हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, वर्ष-1990
2. फ्रैंक थिली, पाश्चात्य दर्शन का इतिहास (अनुवादक-एन.ए.खान 'शाहिद'), अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली, वर्ष-2014, प्रथम हिन्दी संस्करण।
3. जगदीश सहाय श्रीवास्तव, पाश्चात्य दर्शन की दार्शनिक प्रवृत्तियाँ, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद, वर्ष-2000.
4. प्रो० बी.के.लाल, समकालीन पाश्चात्य दर्शन, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, वर्ष-1991.
5. अजित कुमार सिन्हा, समकालीन दर्शन, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, वर्ष-1991.
6. डॉ० बद्रीनाथ सिंह, पाश्चात्य दर्शन की रूपरेखा, आशा प्रकाशन, वाराणसी, वर्ष-2016.
7. डॉ० बद्रीनाथ सिंह, पाश्चात्य दर्शन की समस्याएँ एवं समकालीन दर्शन, आशा प्रकाशन, वर्ष-2000.
8. डॉ० डी.आर.जाटव, प्रमुख पाश्चात्य दार्शनिक, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, वर्ष-2011.

9. डॉ० जगदीश सहाय श्रीवास्तव, अर्वाचीन दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास, किताब महल, इलाहाबाद, वर्ष-2005.
10. श्यामकिशोर सेठ, निलिमा मिश्रा, तर्कशास्त्र :- एक आधुनिक परिचय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, वर्ष-2004.
11. Russell, Bertend, A History of Western Philosophy, Routledge Classics, London, 2008
12. The Oxford Companion to Philosophy.
13. Witgenstine Ludwig, Tractatus Logico Philosophicus, Routledge, London, 1981
14. Russell Bertand, The Problems of Philosophy, Indy Publish.com, 1912
15. Plato, Republic, Penguin Classics, 2003